



स म प श

कविश्र आचार्य मुनि आगेछा, अमर,  
दे

प्रमुख ज्ञानि संरक्षक,

अद्वैत गणी श्री उदयपण्डजी महाराज  
दे

राज्य हर कमलों में

समस्त भाव

समर्पित

—मुनि 'अमर'

# स्नेह-स्मृतिः

आचार्य मोतिरामस्य

श्रीमतः स्वयं-वासिनः ।

स्मृतौ तत्स्नेह-पानेन

कृतिरेषा प्रकाशिता ॥

## प्रकाशकीय निवेदन

हमारे लिए यह अत्यंत हर्षका विषय है कि आज हम इस रूपमें स-भाष्य सामायिक सूत्र छाप के संमुख रख रहे हैं। सामायिक सूत्र पर अपने दंग का यह प्रथम ग्रंथ रत्न है। संमान्य उपाध्याय मुनि श्री धर्मरघुंद्र जी 'कवि रत्न' की दीर्घ कालीन साधना के फल स्वरूप ही यह भाष्य प्रस्तुत हो सका है; इस भाष्य की उपयोगिता, उपाध्याय-श्री जी की गंभीर अन्वेषण-शक्ति का योग पाकर कितनी बढ़ गई है, यह बतलाना मेरे लिए शक्य नहीं। पंडित बेचरदास जी दोरी जैसे अभ्ययनशील विद्वान ने भाष्य की महत्ता मुक्त कंठ से स्वीकार की है। हम तो इतना ही मानते हैं इस तरह के ग्रंथ सदा ही सामने नहीं आते।

सामायिक सूत्र—हमारी चिर अभिलाषा की पूर्ति करने वाला प्रकाशन है।

हमारी हार्दिक इच्छा थी, इस ग्रंथ रत्न को हम उसी तरह सजा-संगार कर प्रकाशित करें, जैसा एक सारयुद्ध ग्रंथ रत्न के लिए आवश्यक है, मगर साधनहीन, मुद्रिणादिहीन परिस्थिति में इससे कुछ अधिक करना-करामा अशक्य रहा। धीरे धीरे भी, जो कुछ भी हो सका, छाप के दायों में है। सुधी पाठक, सादगी में भी आत्मानंद की प्राप्ति करेंगे। वस,

यह भी निवेदन कर दें तो कोई अनुचित कार्य नहीं होगा कि स्वरा-प्रकारान को लेकर जो झुटिई होनी चाहिए—यह मू. संशोधन

की बुद्धि, इस में मिलेगी। हम अपनी असमर्पता के लिए कष्ट  
प्रार्थी हैं।

शेष में—हम बिना किसी उपचार के, राजहंस मेस दिखी एवं श्री कुमुद  
विद्यालंकार श्री आभार मानते हैं, जिन्होंने हमारे लिए मेस आदि  
कार्यों में सहयोग प्रदान किया है।

सन्मति ज्ञान-पीठ,	}	विनीत—
खोहामंडी, आगरा		
		रतन लाल जैन मीतल

## श्रपनी बात

प्रस्तुत सामायिक सूत्र के लिखने और जनता के सनस्र धाने की कहानी यही लंबी है। यदि विस्तार में न जाकर संक्षेप में कहें तो यह है कि इसका कुछ अंश महेन्द्रगढ़ में लिखा तो कुछ फरीदकोट में, और पूर्णाहुति तुरं अन्यः आगरा एवं दिल्ली के चातुर्मास में।

आर जानते हैं जैन-साधु का जीवन शुद्ध परिमात्रक का जीवन है। परिमात्रक ठहरा धुमककह, अतः यह एक जगह जमकर कोई भी लंबी प्रवृत्ति नहीं कर सकता। दूसरी बात यह है कि हर जगह यथा-भिलपित साहित्य-सामग्री भी तो उपलब्ध नहीं होती।

हाँ, तो सामायिक का लेखक पंजाब, राजपूताना एवं दिल्ली का घूमकर काटता रहा, और जहाँ भी गया, सुनाने में आया, फलतः साहित्य प्रेमी विद्वानों की ओर से उचित आदर-मान पाता रहा। अपने अभिन्न स्नेही व्याख्यान पाचस्पति पं० श्री मदन मुनि जी तो प्रस्तुत पुस्तक के प्रारंभ से ही प्रसन्न रहे हैं। आप की मधुर प्रेरणाएँ पुस्तक के साथ जुड़ी हुई हैं। अन्य मुनि राजा और गृहस्थों का उत्साहमय आग्रह भी स्मृति-योग्य है।

अद्वैत गुरुदेव पूज्यपाद जैनाचार्य श्री दृष्टोपेन्द्रजी महाराज, और उदार हृदय, स्नेह-मूर्ति अद्वैत गली श्री स्वामि साखजी महाराज का स्नेह मधुर आशीर्वाद भी पुस्तक के साथ सम्बद्ध है। आपकी प्रेम-वर्षा के बिना यह मेरा साहित्य-प्रेम का मुख्य अंगुर कभी भी इस प्रकार प्रकाशित नहीं हो सकता था। मेरे लघु गुरुभाषा श्री चमोख-



## विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
संदर्भ	१-११
संयोज	१३-१३०
१. विषय क्या है ?	१२
२. चैतन्य	१८
३. अनुपम और अनुपपन्न	२१
४. अनुपपन्न का विकास	२३
५. सामाजिक का अर्थ	४१
६. सामाजिक का अर्थ	४३
७. सामाजिक का अर्थ	४४
८. अर्थ और भाव	४७
९. सामाजिक का अर्थ	५१
१०. सामाजिक के दोष	६२
११. अर्थ और भाव	६७
१२. सामाजिक के अधिकारी	७२
१३. सामाजिक का महत्व	७५
१४. सामाजिक का मूल	८०
१५. अर्थ और चैतन्य का अर्थ	८२
१६. अर्थ और भाव	८६
१७. अर्थ और भाव	८६
१८. अर्थ और भाव	८६
१९. अर्थ और भाव	८६
२०. सामाजिक कह करनी चाहिए ?	८८



विषय	पृष्ठ
२१. आसन कैसा ?	१०२
२२. पूर्व और उत्तर ही क्यों ?	१०४
२३. प्राकृत-भाषा में ही क्यों ?	१०८
२४. दो घंटी ही क्यों ?	११२
२५. वैदिक-सम्प्रदाय और सामायिक	११५
२६. प्रतिज्ञा-पाठ कितनी बार ?	१२१
२७. लोगस का ध्यान	१२३
२८. उपसंहार	१२६
सामायिक सूत्र	१३१-१८८
१. नमस्कार सूत्र	१३३
२. मन्त्रकथन-सूत्र	१४१
३. गुरु-गुण-स्मरण-सूत्र	१५०
४. गुरु-वन्दन-सूत्र	१७१
५. आर्जोचना-सूत्र	१८२
६. उत्तरीकरण-सूत्र	१८७
७. आहार-सूत्र	२०१
८. अनुविर्तन-स्तव-सूत्र	२१२
९. प्रतिज्ञा-सूत्र	२३०
१०. प्रणिधान सूत्र	२४८
११. समाप्ति सूत्र	२८३
परिशिष्ट	२८६-३२५
१. विधि	२८१
२. संस्कृत-शब्दानुवाद	२८४
३. सामायिक सूत्र हिन्दी शब्दानुवाद	३०२
४. सामायिक पाठ	३१४
५. प्रश्नोत्तरों में प्रयुक्त प्रमुख सूची	३२३

अन्तर्दर्शन



## अन्तर्दर्शन

( पं० बेचरदास जी दोशी, अहमदाबाद )

कविरत्न श्री जनरचंद्रजी उपाध्याय का सम्पादित सामायिक सूत्र मैं नम्रूप पर गया हूं। इतने नूत पाठ तथा उसका संस्कृतानुवाद—संस्कृत शब्दधापा दोनों ही हैं। मूलपाठ के प्रत्येक शब्द का हिन्दी में अर्थ तो है ही, साथ ही प्रत्येक सूत्र के अंत में उसका अलंङ संस्कृत भाषा में भी दिया है। और भी, कविरत्न जी ने हिन्दी-विवेचन के रूप में सम्पूर्ण पुण्ययोगी जीवन सारी शास्त्रीय चर्चाओं एवं विवेचनाओं से इसे सम्बन्धनशील हृदयों के लिए अत्यंत ही उपयोगी रूप दिया है। सम्बन्ध के सीमित क्षेत्र के बीच रहते हुए भी कविरत्न जी की विवेचनाएं प्रायः साम्प्रदायिक भावना से शून्य हैं, स्पष्ट हैं। तुलनात्मक पद्धति का अनुसरण कर उन्होंने इस और एक नया प्रकार दिया है। इस प्रकार तुलनात्मक पद्धति तथा स्पष्ट भाव की दृष्टि का अनुसरण देख कर मुझे सविशेष प्रमोद होता है।

कविरत्न जी का जैत उगत में साधुत्व के नाते एक विरोध स्थान है, फिर भी उन्होंने विनयशील स्वभाव, विद्वानुरागतन की प्रवृत्ति, विवेक-दृष्टि और अलम्बनात्मिक विषयों के सहारे अपने आप को और भी उत्तर उठाया है। मेरा और उनका अन्तर्गत-अपेक्षा का घनिष्ठ संबंध रहा है, अतः विजना मैं स्वयं उन्हें नवदीक से समझ पाया हूं, उठना ही यदि उनके अनुयायी भी अपने गुरु कविरत्न जी को समझने की चेष्टा करें तो निश्चय ही वे अपना और अपनी सम्बन्ध का अर्थ साधन करने में एक सकल पाठें कर सकेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक में खेतांबर मूर्तिपूजक परंपरा की सामायिक विधि तथा दिगंबर जैन परंपरा की सामायिक विधि भी यदि जोड़ दी जाय तो वह और भी उपादेय हो जाय ।

मूल सूत्र तो तीनों ही परंपरा के अलगमग एक से हैं । दिगंबर-परंपरा में मूल पाठ अपने मागधी में है तथा संस्कृत में भी, अतः उन दोनों पाठों को जोड़ना उचित होगा । कविरत्न जी से मेरा आग्रह है कि वह तीनों जैन संप्रदाय की सामायिक विधि या अन्य पाठ-भेद आदि विशेषताओं को पुस्तक के परिशिष्ट भाग में देने का कह करें । इस तरह समस्त जैनों के लिए पुस्तक उपादेय तो होगी ही, साथ ही हमारी साम्प्रदायिक कट्टरता को मिटाने में भी-समर्थ होगी । पारस्परिक समभाव की वृद्धि से ही हम सच्ची चर्हिता के आराधक बन सकते हैं ।

प्रत्येक प्राणी में स्वरचय वृत्ति का भाव जन्म से होता है, इस स्वरचय वृत्ति को सर्वरचय वृत्ति में बदल देना सामायिक का प्रधान उद्देश्य है । मानव की दृष्टि सर्व प्रथम अपने ही देह, इंद्रियाँ, और भोग-विश्रास तक पहुँचती है, फलतः उसकी रचा के लिए वह सारे कार्य-अकार्य करने को तैयार रहता है । जब वह अपने बड़कर पारिवारिक चेतना प्राप्त करता है, तब उसकी वह रचय वृत्ति विकसित होकर परिवार की सीमा में पहुँचती है । परन्तु सामायिक हमें बताता है कि स्वरचय वृत्ति के विकास का महत्व केवल अपने देह और परिवार तक ही नहीं, विश्वव्यापी बनाने में है । वह भी शान्ति परिषद् (पीस कॉन्फ्रेंस) की तरह केवल विचार मात्र में नहीं, अपितु व्यवहार में प्राप्ति-मात्र की रचा-वृत्ति में है । विश्व-रचय का भाव रखने वाला और इसी के अनु-सार कार्य करने वाला मानव सच्चा सामायिक करता है । फिर भले ही वह भावक हो या और कोई गृहस्थ हो, किंवा संन्यस्त साधु हो, किसी भी संप्रदाय-मत का अथवा देश का क्यों न हो और किसी भी विधि-परंपरा से संबंध रखने वाला क्यों न हो, विभिन्न जातियों, विभिन्न भाषाएँ और विभिन्न विधियों सामायिक में अन्तर नहीं बाल सकती,

न्यायचर गरी हाल सबली । जहाँ समभाव है, विरचरण वृत्ति है, और उसका आचरण है, वही सामायिक है । बाह्य भेद मौल्य है, मुख्य नहीं ।

प्राणि मात्र की आत्मवत् समझने हुए सब व्यवहार चलाने का ही नाम सामायिक है—सम + आय + इक=सामायिक । सम=समभाव, सर्वत्र आत्मवत् प्रवृत्ति, आय=साम, जिस प्रवृत्ति से समता की, सम-भाव की अभिवृद्धि हो, वही सामायिक है ।

जैन शास्त्र में सामायिक के दो भेद बताए गए हैं—एक द्रव्य-सामायिक, दूसरा भाष सामायिक । सम भाष की प्राप्ति, सम भाष का अनुभव और फिर सम भाष का प्रत्यक्ष आचरण—भाव सामायिक है । ऐसे भाष सामायिक की प्राप्ति के लिए जो बाह्य-साधन और अंतरंग-साधन जुटाए जाते हैं, उसे द्रव्य-सामायिक कहते हैं । जो द्रव्य-सामायिक हमें भाष सामायिक के समीप न पहुंचा सके, वह द्रव्य-सामायिक नहीं, किन्तु अन्ध-सामायिक है, मिथ्या सामायिक है, यदि और उग्र भाषा में कहें तो दल सामायिक है ।

हम अपने निरय प्रति के जीवन में भाष सामायिक का प्रयोग करें, यही द्रव्य सामायिक का प्रधान उद्देश्य है । हम घर में हों, दुकान में हों, फाँट-कचहरी में हों, किसी भी व्यावहारिक कार्य में और कहीं भी क्यों न हों, सर्वत्र और सभी समय सामायिक की मौलिक भावना के अनुसार हमारा सब लौकिक व्यवहार चल सकता है । उपाध्यय या स्थानक में, 'सावज्जं जागं पच्चक्खामि'—'वाप-युक्त प्रवृत्तियों का त्याग करता हूँ'—की ली गई प्रतिज्ञा की सार्थकता परतुत आर्थिक, राजनीतिक और घरेलू व्यवहारों में ही सामने आ सकती है । उद् निर्णय के साथ जीवनमें सर्वत्र सामायिक प्रयोग की भावना धरने के लिए ही तो हम प्रतिदिन उपाध्यायिक पाँच स्थानों में देव-गुरु के समक्ष, 'सावज्जं जागं पच्चक्खामि' की उद्घोषणा करते हैं, सामायिक का पुनः पुनः अभ्यास करते हैं । अब हम अभ्यास करते-करते जीवन के सब व्यवहारों में सामायिक का प्रयोग करना मात्र लें और इस क्रिया में भली भाँति

[illegible]

११. जहाँ पर कर्म के द्वारा ही सभी स्थानों में ही सामाजिक कार्य  
कराया जा रहा है। इससे सभी समाज में एक जैसे निष्पत्ति मिलती है।  
यह भी है कि सभी प्रकार के कार्य ही ही प्रत्यक्ष ही अपने हाथों में

[illegible]

१. क न म प य इ ई श्रु ध्या म न । पश्चिमीया न्यायः ।  
२. 'श्रु' 'य' 'न' 'ध्या' 'म' 'न' । इत्येतेषु न पञ्चदशमस्य दृष्टा

१ । त्रिभुवनं विना भवति ननु त्रिभुवनं अत्रैव निमित्तं त्रिभुवनं  
२ । त्रिभुवनं त्रिभुवनं त्रिभुवनं त्रिभुवनं त्रिभुवनं त्रिभुवनं

[illegible]
$$\begin{aligned} \frac{\partial}{\partial t} &= \frac{\partial}{\partial t} + \frac{\partial}{\partial x} \left( \frac{x}{t} \right) = \frac{\partial}{\partial t} + \frac{1}{t} \\ \frac{\partial}{\partial x} &= \frac{\partial}{\partial x} + \frac{\partial}{\partial y} \left( \frac{y}{x} \right) = \frac{\partial}{\partial x} + \frac{1}{x} \end{aligned}$$
[illegible]

$\frac{1}{2} \left( \frac{1}{2} + \frac{1}{2} \right) = \frac{1}{2}$

[illegible]

$\frac{1}{\sqrt{\pi}} \int_{-\infty}^{\infty} f(x) e^{-x^2} dx = \frac{1}{\sqrt{\pi}} \int_{-\infty}^{\infty} f(x) e^{-x^2} dx$

Figure 1. The effect of the concentration of the *Agaricus bisporus* spores on the growth of *Agaricus bisporus* and *Agaricus bisporus* spores. The concentration of the *Agaricus bisporus* spores was 10<sup>6</sup> spores/ml (A), 10<sup>7</sup> spores/ml (B), 10<sup>8</sup> spores/ml (C), 10<sup>9</sup> spores/ml (D), 10<sup>10</sup> spores/ml (E), 10<sup>11</sup> spores/ml (F), 10<sup>12</sup> spores/ml (G), 10<sup>13</sup> spores/ml (H), 10<sup>14</sup> spores/ml (I), 10<sup>15</sup> spores/ml (J), 10<sup>16</sup> spores/ml (K), 10<sup>17</sup> spores/ml (L), 10<sup>18</sup> spores/ml (M), 10<sup>19</sup> spores/ml (N), 10<sup>20</sup> spores/ml (O), 10<sup>21</sup> spores/ml (P), 10<sup>22</sup> spores/ml (Q), 10<sup>23</sup> spores/ml (R), 10<sup>24</sup> spores/ml (S), 10<sup>25</sup> spores/ml (T), 10<sup>26</sup> spores/ml (U), 10<sup>27</sup> spores/ml (V), 10<sup>28</sup> spores/ml (W), 10<sup>29</sup> spores/ml (X), 10<sup>30</sup> spores/ml (Y), 10<sup>31</sup> spores/ml (Z), 10<sup>32</sup> spores/ml (AA), 10<sup>33</sup> spores/ml (AB), 10<sup>34</sup> spores/ml (AC), 10<sup>35</sup> spores/ml (AD), 10<sup>36</sup> spores/ml (AE), 10<sup>37</sup> spores/ml (AF), 10<sup>38</sup> spores/ml (AG), 10<sup>39</sup> spores/ml (AH), 10<sup>40</sup> spores/ml (AI), 10<sup>41</sup> spores/ml (AJ), 10<sup>42</sup> spores/ml (AK), 10<sup>43</sup> spores/ml (AL), 10<sup>44</sup> spores/ml (AM), 10<sup>45</sup> spores/ml (AN), 10<sup>46</sup> spores/ml (AO), 10<sup>47</sup> spores/ml (AP), 10<sup>48</sup> spores/ml (AQ), 10<sup>49</sup> spores/ml (AR), 10<sup>50</sup> spores/ml (AS), 10<sup>51</sup> spores/ml (AT), 10<sup>52</sup> spores/ml (AU), 10<sup>53</sup> spores/ml (AV), 10<sup>54</sup> spores/ml (AW), 10<sup>55</sup> spores/ml (AX), 10<sup>56</sup> spores/ml (AY), 10<sup>57</sup> spores/ml (AZ), 10<sup>58</sup> spores/ml (BA), 10<sup>59</sup> spores/ml (BB), 10<sup>60</sup> spores/ml (BC), 10<sup>61</sup> spores/ml (BD), 10<sup>62</sup> spores/ml (BE), 10<sup>63</sup> spores/ml (BF), 10<sup>64</sup> spores/ml (BG), 10<sup>65</sup> spores/ml (BH), 10<sup>66</sup> spores/ml (BI), 10<sup>67</sup> spores/ml (BJ), 10<sup>68</sup> spores/ml (BK), 10<sup>69</sup> spores/ml (BL), 10<sup>70</sup> spores/ml (BM), 10<sup>71</sup> spores/ml (BN), 10<sup>72</sup> spores/ml (BO), 10<sup>73</sup> spores/ml (BP), 10<sup>74</sup> spores/ml (BQ), 10<sup>75</sup> spores/ml (BR), 10<sup>76</sup> spores/ml (BS), 10<sup>77</sup> spores/ml (BT), 10<sup>78</sup> spores/ml (BU), 10<sup>79</sup> spores/ml (BV), 10<sup>80</sup> spores/ml (BW), 10<sup>81</sup> spores/ml (BX), 10<sup>82</sup> spores/ml (BY), 10<sup>83</sup> spores/ml (BZ), 10<sup>84</sup> spores/ml (CA), 10<sup>85</sup> spores/ml (CB), 10<sup>86</sup> spores/ml (CC), 10<sup>87</sup> spores/ml (CD), 10<sup>88</sup> spores/ml (CE), 10<sup>89</sup> spores/ml (CF), 10<sup>90</sup> spores/ml (CG), 10<sup>91</sup> spores/ml (CH), 10<sup>92</sup> spores/ml (CI), 10<sup>93</sup> spores/ml (CJ), 10<sup>94</sup> spores/ml (CK), 10<sup>95</sup> spores/ml (CL), 10<sup>96</sup> spores/ml (CM), 10<sup>97</sup> spores/ml (CN), 10<sup>98</sup> spores/ml (CO), 10<sup>99</sup> spores/ml (CP), 10<sup>100</sup> spores/ml (CQ), 10<sup>101</sup> spores/ml (CR), 10<sup>102</sup> spores/ml (CS), 10<sup>103</sup> spores/ml (CT), 10<sup>104</sup> spores/ml (CU), 10<sup>105</sup> spores/ml (CV), 10<sup>106</sup> spores/ml (CW), 10<sup>107</sup> spores/ml (CX), 10<sup>108</sup> spores/ml (CY), 10<sup>109</sup> spores/ml (CZ), 10<sup>110</sup> spores/ml (DA), 10<sup>111</sup> spores/ml (DB), 10<sup>112</sup> spores/ml (DC), 10<sup>113</sup> spores/ml (DD), 10<sup>114</sup> spores/ml (DE), 10<sup>115</sup> spores/ml (DF), 10<sup>116</sup> spores/ml (DG), 10<sup>117</sup> spores/ml (DH), 10<sup>118</sup> spores/ml (DI), 10<sup>119</sup> spores/ml (DJ), 10<sup>120</sup> spores/ml (DK), 10<sup>121</sup> spores/ml (DL), 10<sup>122</sup> spores/ml (DM), 10<sup>123</sup> spores/ml (DN), 10<sup>124</sup> spores/ml (DO), 10<sup>125</sup> spores/ml (DP), 10<sup>126</sup> spores/ml (DQ), 10<sup>127</sup> spores/ml (DR), 10<sup>128</sup> spores/ml (DS), 10<sup>129</sup> spores/ml (DT), 10<sup>130</sup> spores/ml (DU), 10<sup>131</sup> spores/ml (DV), 10<sup>132</sup> spores/ml (DW), 10<sup>133</sup> spores/ml (DX), 10<sup>134</sup> spores/ml (DY), 10<sup>135</sup> spores/ml (DZ), 10<sup>136</sup> spores/ml (EA), 10<sup>137</sup> spores/ml (EB), 10<sup>138</sup> spores/ml (EC), 10<sup>139</sup> spores/ml (ED), 10<sup>140</sup> spores/ml (EE), 10<sup>141</sup> spores/ml (EF), 10<sup>142</sup> spores/ml (EG), 10<sup>143</sup> spores/ml (EH), 10<sup>144</sup> spores/ml (EI), 10<sup>145</sup> spores/ml (EJ), 10<sup>146</sup> spores/ml (EK), 10<sup>147</sup> spores/ml (EL), 10<sup>148</sup> spores/ml (EM), 10<sup>149</sup> spores/ml (EN), 10<sup>150</sup> spores/ml (EO), 10<sup>151</sup> spores/ml (EP), 10<sup>152</sup> spores/ml (EQ), 10<sup>153</sup> spores/ml (ER), 10<sup>154</sup> spores/ml (ES), 10<sup>155</sup> spores/ml (ET), 10<sup>156</sup> spores/ml (EU), 10<sup>157</sup> spores/ml (EV), 10<sup>158</sup> spores/ml (EW), 10<sup>159</sup> spores/ml (EX), 10<sup>160</sup> spores/ml (EY), 10<sup>161</sup> spores/ml (EZ), 10<sup>162</sup> spores/ml (FA), 10<sup>163</sup> spores/ml (FB), 10<sup>164</sup> spores/ml (FC), 10<sup>165</sup> spores/ml (FD), 10<sup>166</sup> spores/ml (FE), 10<sup>167</sup> spores/ml (FF), 10<sup>168</sup> spores/ml (FG), 10<sup>169</sup> spores/ml (FH), 10<sup>170</sup> spores/ml (FI), 10<sup>171</sup> spores/ml (FJ), 10<sup>172</sup> spores/ml (FK), 10<sup>173</sup> spores/ml (FL), 10<sup>174</sup> spores/ml (FM), 10<sup>175</sup> spores/ml (FN), 10<sup>176</sup> spores/ml (FO), 10<sup>177</sup> spores/ml (FP), 10<sup>178</sup> spores/ml (FQ), 10<sup>179</sup> spores/ml (FR), 10<sup>180</sup> spores/ml (FS), 10<sup>181</sup> spores/ml (FT), 10<sup>182</sup> spores/ml (FU), 10<sup>183</sup> spores/ml (FV), 10<sup>184</sup> spores/ml (FW), 10<sup>185</sup> spores/ml (FX), 10<sup>186</sup> spores/ml (FY), 10<sup>187</sup> spores/ml (FZ), 10<sup>188</sup> spores/ml (GA), 10<sup>189</sup> spores/ml (GB), 10<sup>190</sup> spores/ml (GC), 10<sup>191</sup> spores/ml (GD), 10<sup>192</sup> spores/ml (GE), 10<sup>193</sup> spores/ml (GF), 10<sup>194</sup> spores/ml (GG), 10<sup>195</sup> spores/ml (GH), 10<sup>196</sup> spores/ml (GI), 10<sup>197</sup> spores/ml (GJ), 10<sup>198</sup> spores/ml (GK), 10<sup>199</sup> spores/ml (GL), 10<sup>200</sup> spores/ml (GM), 10<sup>201</sup> spores/ml (GN), 10<sup>202</sup> spores/ml (GO), 10<sup>203</sup> spores/ml (GP), 10<sup>204</sup> spores/ml (GQ), 10<sup>205</sup> spores/ml (GR), 10<sup>206</sup> spores/ml (GS), 10<sup>207</sup> spores/ml (GT), 10<sup>208</sup> spores/ml (GU), 10<sup>209</sup> spores/ml (GV), 10<sup>210</sup> spores/ml (GW), 10<sup>211</sup> spores/ml (GX), 10<sup>212</sup> spores/ml (GY), 10<sup>213</sup> spores/ml (GZ), 10<sup>214</sup> spores/ml (HA), 10<sup>215</sup> spores/ml (HB), 10<sup>216</sup> spores/ml (HC), 10<sup>217</sup> spores/ml (HD), 10<sup>218</sup> spores/ml (HE), 10<sup>219</sup> spores/ml (HF), 10<sup>220</sup> spores/ml (HG), 10<sup>221</sup> spores/ml (HH), 10<sup>222</sup> spores/ml (HI), 10<sup>223</sup> spores/ml (HJ), 10<sup>224</sup> spores/ml (HK), 10<sup>225</sup> spores/ml (HL), 10<sup>226</sup> spores/ml (HM), 10<sup>227</sup> spores/ml (HN), 10<sup>228</sup> spores/ml (HO), 10<sup>229</sup> spores/ml (HP), 10<sup>230</sup> spores/ml (HQ), 10<sup>231</sup> spores/ml (HR), 10<sup>232</sup> spores/ml (HS), 10<sup>233</sup>

— **1997** — **1998** — **1999** — **2000** — **2001** — **2002** — **2003** — **2004** — **2005** — **2006** — **2007** — **2008** — **2009** — **2010** — **2011** — **2012** — **2013** — **2014** — **2015** — **2016** — **2017** — **2018** — **2019** — **2020** — **2021** — **2022** — **2023** — **2024** — **2025** — **2026** — **2027** — **2028** — **2029** — **2030** — **2031** — **2032** — **2033** — **2034** — **2035** — **2036** — **2037** — **2038** — **2039** — **2040** — **2041** — **2042** — **2043** — **2044** — **2045** — **2046** — **2047** — **2048** — **2049** — **2050** — **2051** — **2052** — **2053** — **2054** — **2055** — **2056** — **2057** — **2058** — **2059** — **2060** — **2061** — **2062** — **2063** — **2064** — **2065** — **2066** — **2067** — **2068** — **2069** — **2070** — **2071** — **2072** — **2073** — **2074** — **2075** — **2076** — **2077** — **2078** — **2079** — **2080** — **2081** — **2082** — **2083** — **2084** — **2085** — **2086** — **2087** — **2088** — **2089** — **2090** — **2091** — **2092** — **2093** — **2094** — **2095** — **2096** — **2097** — **2098** — **2099** — **2100** — **2101** — **2102** — **2103** — **2104** — **2105** — **2106** — **2107** — **2108** — **2109** — **2110** — **2111** — **2112** — **2113** — **2114** — **2115** — **2116** — **2117** — **2118** — **2119** — **2120** — **2121** — **2122** — **2123** — **2124** — **2125** — **2126** — **2127** — **2128** — **2129** — **2130** — **2131** — **2132** — **2133** — **2134** — **2135** — **2136** — **2137** — **2138** — **2139** — **2140** — **2141** — **2142** — **2143** — **2144** — **2145** — **2146** — **2147** — **2148** — **2149** — **2150** — **2151** — **2152** — **2153** — **2154** — **2155** — **2156** — **2157** — **2158** — **2159** — **2160** — **2161** — **2162** — **2163** — **2164** — **2165** — **2166** — **2167** — **2168** — **2169** — **2170** — **2171** — **2172** — **2173** — **2174** — **2175** — **2176** — **2177** — **2178** — **2179** — **2180** — **2181** — **2182** — **2183** — **2184** — **2185** — **2186** — **2187** — **2188** — **2189** — **2190** — **2191** — **2192** — **2193** — **2194** — **2195** — **2196** — **2197** — **2198** — **2199** — **2200** — **2201** — **2202** — **2203** — **2204** — **2205** — **2206** — **2207** — **2208** — **2209** — **2210** — **2211** — **2212** — **2213** — **2214** — **2215** — **2216** — **2217** — **2218** — **2219** — **2220** — **2221** — **2222** — **2223** — **2224** — **2225** — **2226** — **2227** — **2228** — **2229** — **2230** — **2231** — **2232** — **2233** — **2234** — **2235** — **2236** — **2237** — **2238** — **2239** — **2240** — **2241** — **2242** — **2243** — **2244** — **2245** — **2246** — **2247** — **2248** — **2249** — **2250** — **2251** — **2252** — **2253** — **2254** — **2255** — **2256** — **2257** — **2258** — **2259** — **2260** — **2261** — **2262** — **2263** — **2264** — **2265** — **2266** — **2267** — **2268** — **2269** — **2270** — **2271** — **2272** — **2273** — **2274** — **2275** — **2276** — **2277** — **2278** — **2279** — **2280** — **2281** — **2282** — **2283** — **2284** — **2285** — **2286** — **2287** — **2288** — **2289** — **2290** — **2291** — **2292** — **2293** — **2294** — **2295** — **2296** — **2297** — **2298** — **2299** — **2300** — **2301** — **2302** — **2303** — **2304** — **2305** — **2306** — **2307** — **2308** — **2309** — **2310** — **2311** — **2312** — **2313** — **2314** — **2315** — **2316** — **2317** — **2318** — **2319** — **2320** — **2321** — **2322** — **2323** — **2324** — **2325** — **2326** — **2327** — **2328** — **2329** — **2330** — **2331** — **2332** — **2333** — **2334** — **2335** — **2336** — **2337** — **2338** — **2339** — **2340** — **2341** — **2342** — **2343** — **2344** — **2345** — **2346** — **2347** — **2348** — **2349** — **2350** — **2351** — **2352** — **2353** — **2354** — **2355** — **2356** — **2357** — **2358** — **2359** — **2360** — **2361** — **2362** — **2363** — **2364** — **2365** — **2366** — **2367** — **2368** — <

प्रादिनाथ में समनाथ की प्रवृत्ति, मानव-सनाथ में मुक्त-शक्ति का विस्तार, भ्रंशति का मार और कलह-प्रबंध का त्याग है। यही सामाजिक का लक्ष्य और यही सामाजिक का उद्देश्य है।

सामाजिक समनाथ-की-कल्पना रखता है। यह मूल पट्टिका, रजो-हार और बैठका-क्यासन आदि की कल्पना नहीं रखता। उक्त सब चीजों को समनाथ के अन्वय का साधन बड़ा जा सकता है; परन्तु यदि ये चीजें समनाथ के अन्वय में हों, उनसे भी नहीं हो सकीं तो प्रतिग्रह मात्र है, आडम्बरमात्र है। सामाजिक करते हुए हमें लोभ, क्रोध, मोह, अज्ञान, दुराग्रह, अन्धमर्श तथा सांन्यास-भ्रंश देव को त्याग करने का अन्वय करना चाहिए। अन्य सम्प्रदायों के साथ समनाथ से बतौर करना, तथा उनके विचारों को सरल भाव से समझना, सामाजिक के साधक का अतीव आवश्यक कर्तव्य है। उक्त सब बातों पर कविजी जी ने अपने विवेचन में विस्तार के साथ बहुत अच्छे ढंग से प्रकट डाला है।

कभी-कभी हम-धार्मिक विद्या-कलारों और विधि-विधानों को प्रबंध-सिद्धि का निमित्त भी बना लेते हैं, धर्म के नाम पर सुलतन-सुल्ता अधर्म का आश्रय करने लगते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि हम उन विधानों का हृदय एवं भाव ढोक तरह समझ नहीं पाते। आज के धर्म और सम्प्रदायों के अधिकतर अनुयायियों का प्रत्यक्ष आश्रय तथा धर्म-विधान इनको तार्क्य दे रहा है।

दूसरी घूट की मनोवृत्ति है—धार्मिक घूट की मनोवृत्ति की ही हम लेंगे। हमारे पूर्वजों ने, पुत्रों ने सन-सन पर पुनःपुनः उचित परिष्कार और शक्ति का भावना में प्रेरित होकर प्राचीन जोर-शोर धार्मिक विद्या-कलारों ने जोड़ा ता नया हेर-छेर क्या किया—हमने उसे घूट का प्रचार ही मान लिया—भेदभाव का आदर्श सिद्धांत ही समझ लिया। जैन समाज का खेडपर और दिगंबर सम्प्रदाय, तथा खेडपर सम्प्रदाय ने भी, मूर्तिपूजक स्थानक बस्तो आदि के भेद और दिगंबर









प्र व ष न



: १ :

## विरव क्या है ?

मित्र साजनों ! यह जो कुछ भी विरव-अपेक्ष प्रत्यक्ष द्रव्यवा परोक्ष-रूप में आपके सामने है, यह क्या है ?—कभी एकान्त में बैठकर इस सन्देह में कुछ सोचा-विचारा भी है या नहीं ? उत्तर स्पष्ट है—'नहीं ।' आज का मनुष्य किटना भूला-हुआ प्राणी है कि यह जिस संसार में रहता-सहता है, कनादिकाज-से-उहां-जम्म-मरग-की अनन्त कहियों का जोड़-जोड़ लगावा घापा है, उसी के सम्बन्ध में नहीं जानता कि यह वस्तुतः क्या है ?

आज के मींग-विलामी मनुष्यों का इस धरन की ओर, भले ही सत्य न गया हो; परन्तु हमारे प्राचीन तत्त्वज्ञानी महत्पुरुषों ने, इस सन्देह में बड़ी ही महत्पुरुष गवेषणाएँ की हैं । भारत के बड़े-बड़े दार्शनिकों ने संसार की इस रहस्यपूर्ण गुथी की सुलझाने के अविस्तृत प्रयत्न किए हैं और वे अपने प्रयत्नों में बहुत कुछ सफल भी हुए हैं ।

परन्तु आजतक की जितनी भी संसार के सम्बन्ध में, दार्शनिक-विचार धाराएँ उपलब्ध हुई हैं, उनमें यदि कोई सबसे अधिक स्पष्ट, सुमंगल एवं अनामिश सत्य विचारधारा है तो वह वेद-ज्ञान एवं वेद-दर्शन के धारा सर्वश्रेष्ठ सर्वदर्शी जैन तीर्थंकरों की है । भगवान् स्वयंभूव आदि सभी तीर्थंकरों का कर्मा है कि 'यह विरव सैकन्ध और उद रूप में उभराना कहै, अनादि है, अनन्त है । न कभी बना है और न कभी ना होना । एकांत की दृष्टि में अकार-अकार का, स्वरूप का

परिवर्तन होता रहता है, परन्तु मूल-स्थिति का कभी भी सर्वथा नाश नहीं होता । मूल-स्थिति का धर्म द्रव्यरूपि है ।”

चैतन्याद्वैतवादी वेदान्त के कथनानुसार—‘विरज केवल चैतन्यमय ही है’ यह जैन धर्म को स्वीकार नहीं । यदि जगत् की उत्पत्तिमें पहिले केवल एक पर-मह्य=चैतन्य ही था, अर्थात् प्रकृति नामक कोई दूसरी वस्तु भी ही नहीं, तो फिर यह भावा प्रपञ्चरूप जगत् कहां से उठ आया हुआ ? शुद्ध मह्य में तो किन्हीं भी प्रकारका विकार नहीं आना चाहिए ? यदि भावा के कारण विकार आगया है तो यह भावा क्या है ? सत् या असत् ? यदि सत् है=अस्तित्वरूप है, तो अद्वैतवाद्=एकत्ववाद् कहां रहा ? मह्य और भावा द्वैत न होगया ? यदि असत् है=नास्तित्वरूप है, तो यह शून्य-शून्य अवस्था आकारा पुन्य के समान अभाव स्वरूप ही होगी चाहिए, फलतः यह शुद्ध पर-मह्य को विकृत कैसे कर सकती है ? जो वस्तु ही नहीं, अस्तित्वरूप ही नहीं, वह क्रियाशील कैसे ? कहां तो बड़ी बनेगा, जो भावस्वरूप होगा, क्रियाशील होगा । यह एक ऐसी प्रवृत्ति है, जिसका वेदान्त के पाम कोई उत्तर नहीं ।

अब रहा अद्वैतवादी आचार्य का भी नास्तिक, जो यह कहता है कि—‘संसार केवल प्रकृति स्वरूप ही है, अक्षरूप ही है, उसमें आत्मा अर्थात् चैतन्य जैसा कोई दूसरा पदार्थ किसी भी रूप में नहीं है ।’ जैन धर्म का इसके प्रति भी आशेप है कि यदि केवल प्रकृति ही है, आत्मा है ही नहीं, तो फिर कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई क्रोधी, कोई शमा-यात्री, कोई त्यागी, कोई भोगी, यह विविधता क्यों ? अक्ष प्रकृति को तो सदा एक जैसा रहना चाहिए । दूसरे प्रकृति तो अक्ष है, उसमें भवे-द्वि का ज्ञान कहां ? कभी किसी अक्ष-ईंट या पत्थर आदि को जो वे संकल्प नहीं हुए ? एक मन्हे से कीड़े में भी संकल्प शक्ति है । यह जरा से देखने पर स्पष्ट निवृत्तता है, और आत्मरक्षा के लिए प्रयत्न करता है, परन्तु ईंट या पत्थर को कितना ही कूटिए, उनको घोर से किसी भी

तब ही चेष्टा का प्रदर्शन नहीं होगा । चापोंक उबल प्रश्नों के समक्ष  
मौन है ।

अतएव शेष में यह सिद्ध होजाता है कि—यह अमादि संसार,  
चैतन्य और जड़=उभयरूप है, एकरूप नहीं । जैन तीर्थंकरों का बचन  
है। शास्त्र में पूर्णतया ही टूटी सोने के बराबर निर्मल और साफ है ।





कर्ता नहीं है। करने वाली प्रकृति है। प्रकृति के हर एक, आत्मा देखता है  
अन्य: यह केवल ब्रह्मा है। सांख्य सिद्धान्त का मूल है:—

प्रकृतेः त्रिगुणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

घटकारं त्रिगुणात्मा कर्ताऽस्मिन्मिति मन्यते ॥—गीता २। २७

वेदान्त भी आत्मा को कर्तव्य निव्य मानता है; परन्तु उसके मत  
में ब्रह्मरूप आत्मा एक ही है, सांख्य के समान अनेक नहीं। प्रत्यक्ष में  
जो माना जा रहा है, वह मायाजन्य है, आत्मा का करना  
नहीं। पर-ब्रह्म में ज्यों ही माया का स्वरूप हुआ, यह एक में अनेक हो  
होगा, संसार बन गया। पहले, ऐसा कुछ नहीं था। वेदान्त जहाँ आत्मा  
को एक मानता है, वहाँ स्वयं-प्राप्ति भी मानता है। अविज्ञान ब्रह्मादिक में  
एक ही आत्मा का प्रसार है, आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।  
वेदान्त-दर्शन का आधार मूल है कि—

‘सर्वं ब्रह्मस्यैव सत्त्वं नानास्ते विचिनः।’

पैरोपिक आत्मा को अनेक मानने हैं, पर मानने हैं, स्वयं-प्राप्ति।  
उनका कहना है कि-आत्मा एकान्त निव्य है, वह किसी भी परिवर्तन  
के बाद में नहीं आता। जो सुख-दुःख आदि के रूप में परिवर्तन मकर  
आता है, वह आत्मा के गुणों में है, स्वयं आत्मा में नहीं। ज्ञान आदि  
आत्मा के गुण अन्तर है, पर वे आत्मा को तंग बनने वाले हैं, संसार  
में संभाने वाले हैं। जब तक वे नहीं हो जाते आत्मा की मोह नहीं  
हो सकती। हमारा यह कार्य हुआ कि स्वरूप आत्मा ‘अह’ है।  
आत्मा में भिन्न वस्तुओं के रूप में माने जानेवाले ज्ञान-दुःख वे अन्तर में  
आत्मा में घेना है, स्वयं नहीं।

सोच आत्मा को अन्तरात्मा कहकर मानने हैं। उनका अन्तिमार्थ यह  
है कि प्रत्येक आत्मा एक-एक में यह होता जाता है और उसमें अन्तर-  
प्राप्ति आत्मा अन्तर होते जाते हैं। पर आत्मा को वे अन्तरात्मा रूप-  
प्रकार अन्तरात्मा का रूप में बना आता है। अब कि अन्तरात्मा अन्तरात्मा  
के द्वारा आत्मा को अन्तरात्मा रूप में बना आता है। अब अन्तरात्मा अन्तरात्मा



रसीके समान, निर्जीव हूँ और नांगको भी दुःखमें बदलते और सुख से हफाते देखा है ? कदा सिद्ध है कि आत्मा परित्यक्तनील निरुद्ध है । सत्य के अनुसार दृष्ट्य निरुद्ध नहीं । परित्यक्ती निरुद्ध यह अनिष्टाय है कि आत्मा कर्मांतुत्तर नरक, तिष्ठत आदि में, सुख-दुःख रूप में बदलता भी रहता है और फिर भी आत्मन्य रूप में स्थिर निरुद्ध रहता है । आत्मा का कर्मा नरक नहीं होता । सुख, संकट आदि गहनो के रूप में बदलता रहता है, और सुख रूप में द्रुव रहता है । इसी प्रकार आत्मा भी ।

वेदान्त के अनुसार आत्मा एक और सर्वंगारी भी नहीं । यदि देखा होता, तो विमदन्, कृष्णदन्, रान्दन् आदि सब व्यक्तियों को एक समान ही सुख-दुःख होना चाहिए या । क्योंकि जब आत्मा एक ही है और यह सर्वंगारी भी है फिर अनेक व्यक्ति कलक-कलक सुख-दुःख का अनुभव क्यों करे ? कोई धर्मात्मा और कोई पापी क्यों ? दूसरा दोष यह है कि सर्वंगारी मानने से परलोक भी वदित नहीं हो सकता । क्योंकि जब आत्मा आकृत्य के समान सर्वंगारी है, फलतः कहीं जाता जाता ही नहीं, तब फिर नरक, स्वर्ग आदि विभिन्न स्थानों में जाकर पुनर्जन्म कैसे लेगा ? सर्वंगारी को कर्म-बंधन भी नहीं हो सकता । क्या कभी सर्वंगारी आकृत्य भी किसी बंधन में जाता है ? और जब बंधन ही नहीं तो फिर मोक्ष कहाँ ?

आत्मा का ज्ञान दूर व्यापारिक नहीं है, वैरोधिक दर्शन का उक्त कथन भी अज्ञान्य नहीं प्रकृति और चैतन्य दोनों में विभेद को देखा खिंचेवाला अज्ञान का यदि कोई लक्षण है तो वह एक ज्ञान ही है । ज्ञान का विस्तार हो क्यों न पवन हो जाय वह वनस्पति आदि स्थावर जीवों की अतीव पाल्य स्थिति नरक क्यों न पहुंच जाय, फिर भी उनके आत्मस्वरूप वेदान्त प्रकृत्या नष्ट नहीं हो पाती । अज्ञान का पदं विस्तार हो अनिमित्त क्यों न हो, ज्ञान का हीय प्रकृत्य, फिर भी अन्तर में वनकता ही रहता है । मयन बद्धता के ज्ञान एक जाने पर



हूठ कम निकल गया और उधर चोरी न करने वाले दूसरे आत्मा को बिना कम के खर्च ही दण्ड भोगना पड़ा।

आत्मा कभी सर्वज्ञ नहीं हो सकता, मोक्ष नहीं पा सकता—यह आर्यमनास का कथन भी उचित नहीं। हमें अल्पज्ञ ही रहना है, संसार में ही भटकना है, फिर भला यज्ञ, नियम एवं उपरचरस आदि की स्थापना का क्या धर्म ? धर्मसाधना आत्मा के सद्गुणों का विकास करने के लिए ही तो है। और जब गुणों के विकसित होते-होते आत्मा पूर्ण विकास के पद पर पहुँच जाता है तो वह सर्वज्ञ हो जाता है, ज्ञान में सब कम बन्धनों को बाटकर मोक्ष पद प्राप्त कर लेता है—सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाता है। मोक्ष प्राप्त करने के बाद, फिर कभी भी संसार में भटकना नहीं पड़ता। जिस प्रकार जला हुआ बीज फिर कभी उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार उपरचरस आदि की आध्यात्मिक धर्म से जला हुआ कम बीज भी फिर कभी जन्म-मरण का विष-मंजूर उत्पन्न नहीं कर सकता। जिस प्रकार दूध में से निश्कास कर घलन किया हुआ नमक, पुनः अपने स्वरूप को उत्रकर दूध रूप हो जाय, वह असंभव है, ठीक उसी प्रकार कम से घलन होकर सर्वज्ञा हुई हुआ आत्मा, पुनः बल नहीं हो सकता। कमजोर सुख-दुःख नहीं भोग सकता। बिना कारण के कभी भी कार्य नहीं होता, वह व्याप कारण का प्रभु निश्चय है। वह मोक्ष में समारके कारण कम हो नहीं रहे तो उसका कार्य समार में पुनरागमन कैसे हो सकता है ?

आत्मा एक भूतों का बना हुआ है और एक दिन वह मृत हो जायगा, वह एक मनास आदि नास्तिकों का कथन भी सर्वथा असत्य है। भौतिक पदार्थों से आत्मा की विभिन्नता स्पष्ट सिद्ध है। किसी भी भौतिक पदार्थ में चेतना का अस्तित्व नहीं पाया जाता। और उधर अनेक आत्मा में योही या बहुत चेतना अंतर होती है। अतः तत्पर-भेद से पदार्थ-भेद का निश्चय सर्वज्ञान होने के कारण यह प्रकृति से चैतन्य आत्मा का पृथक् प्रमाण है। पृथ्वी, जल, तेज,

वायु, आकाश, जल, अग्नि, पृथ्वी, इत्यादि सब चीजें  
उत्पन्न हो गई हैं। ये सब चीजें, जो हमारे चारों ओर  
सकती हैं, वे सब चीजें, जो हमारे चारों ओर हैं, वे सब चीजें  
और उत्पन्न हो गई हैं। वे सब चीजें, जो हमारे चारों ओर  
सदा से हैं और सदा रहेगा। जब एक शरीर पीया हो जाता है और  
उत्पन्न होता है, तब आत्मा नवीन कर्मानुसार  
दूसरा शरीर धारण कर लेता है। शरीर-परिवर्तन का यह अर्थ नहीं  
कि शरीर के साथ आत्मा भी नष्ट हो जाता है। अमूर्त, आकाश के  
समान अमूर्त आत्मा भी न कभी बनता है, न बिगड़ता है। वह  
अनादि है, और अनन्त है; अक्षय्य है, अप्रमेय है, अमर है।  
आत्मा अरूपी है, उसका कोई रूप रंग नहीं। आत्मा में स्वर्ण,  
रस, गन्ध आदि किसी तरह की नहीं हो सकते; क्योंकि वे सब सब  
पदार्थ-व्यवस्था के धर्म हैं, आत्मा के नहीं।

आत्मा इन्द्रिय और मन से बाह्य है—‘अथ सत्ता निवर्तते  
न कदा नश्य न विगच्छे,’—(आचार्य ‘प्रथमभूत स्कन्ध’) अस्तु, आत्मा  
के वास्तविक स्वरूप को जानने की शक्ति केवल आत्मा में ही है, अन्य  
किसी भौतिकसाधनमें नहीं। जिस प्रकार स्व-भर प्रकाशक दीपक की देखने  
के लिये हमारे किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु अपने  
उत्पन्नप्रकाशमें ही वह स्वयं प्रतिमान्वित हो जाता है, ठीक इसी प्रकार  
स्व-भर प्रकाशक आत्मा को देखने के लिये भी किसी दूसरे भौतिक साधन  
की आवश्यकता नहीं। अन्तर में रहा हुआ ज्ञान प्रकाश ही, जिसमें  
से वह प्रस्तुति हो रहा है, उस अनन्त तेजोवाम आत्मा को भी देख  
सकता है। आत्मा की निद्रि के लिये स्थानुपूर्ति ही सबसे बड़ा प्रमाण  
है। अतएव आत्मा के सम्बन्ध में कहा जाता है कि ‘मे’ क्यों है, ‘तु’  
‘मे’ है।

आत्मा सर्वव्यापी नहीं, बल्कि शरीर प्रमाण होता है। छोटे शरीर  
में छोटा और बड़े में बड़ा हो जाता है। छोटी वस्तु के वास्तव में आत्मा

घोच होता है, और उत्तरोपर ज्यों-ज्यों शरीर बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों आत्मा का भी विस्तार होता जाता है। आत्मा में संकोच विस्तार का गुण प्रकाश के समान है। एक विस्तार करने में रखते हुए दोनक का प्रकाश बढ़ा होता है, परन्तु यदि आप उसे उठाकर एक छोटे से बड़े में रख दें तो उसका प्रकाश उतने में ही सीमित हो जाएगा। यह सिद्धांत अनुभव सिद्ध भी है कि शरीर में जहाँ कहीं भी चोट लगती है, सर्वत्र दुःख का अनुभव होता है। शरीर में बाहर किसी भी चीज को छुँदिए, कोई दुःख नहीं। शरीर में बाहर आना हो, तभी तो दुःख हो न ? अतः सिद्ध है कि आत्मा सर्वव्यापी न होकर शरीर प्रमाणा ही है।

आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में संक्षिप्त पदार्थ ब्रजनाते हुए भी बाकी विस्तारके साथ लिखा गया है। इतना लिखना था भी आवश्यक। यदि आत्मा का उचित अस्तित्व ही निश्चित न हो तो फिर आप जानते हैं धर्म, अधर्म की जगहों का मूल्य ही क्या रह जाता है ? धर्म का विस्तार मात्र, आत्मा की दुर्निष्ठा पर ही सदा है न ?





आनन्द और जगें तो फिर वही हाय-हाय ! मोक्ष में कुछ काल तक आनन्द में रहना, और फिर वही कर्मचक्र की पीड़ा !

हां, तो आत्मा, कर्मफल से लित होने के कारण अनादिकाल से संसार चक्र में घूम रहा है, अन्न और स्यामर को चौरासी लाख योनियों में भ्रमण कर रहा है। कभी नरक में गया तो कभी तिर्यच में, माना गतिषों में, माना रूप धारण कर, घूमते घूमते अनन्त काल हो चुका है; परन्तु दुःख से छुटकारा नहीं मिलता। दुःख से छुटकारा पाने का एकमात्र साधन मनुष्य जन्म है। आत्मा का जब कभी अनन्त पुरुषोदय होता है, तब कहीं मानव जन्म की प्राप्ति होती है। भारतीय धर्मशास्त्रों में मनुष्य जन्म की बड़ी महिमा गाई है ! कहा जाता है कि देवता भी मानव-जन्म की प्राप्ति के लिए तड़पते हैं। भगवान् महावीर ने अपने धर्म-प्रवचनों में, अनेक बार, मनुष्य-जन्म की दुर्लभता का वर्णन किया है—

कम्मरं तु पश्याप

आपु दुर्लभं कपार उ ।

जीवा सेरिन्नुत्ता,

आप्पन्ति मरुत्तपं ॥

—उत्तराध्ययन ३ । ७

—अनेकानेक योनियों में भटक कर दुःख भोगते-भोगते जब कभी अगुन कर्म खीर होते हैं, और आत्मा शुद्ध-निर्मल होता है, तब वह मनुष्यत्व को प्राप्त करता है।

मोक्ष प्राप्ति के चार कारण दुर्लभ बताते हुए भी, भगवान् महावीर ने, अपने पावापुरी के अन्तिम प्रवचन में, मनुष्यत्व को ही सबसे पहले गिना है। वहां बतलाया है कि—‘मनुष्यत्व, शास्त्रअनुष्ठान, धर्मा और सदाचार के पालन में प्रयत्नशीलता—ये चार साधन जीव को प्राप्त होने अत्यन्त कठिन हैं।’

क्या सबकुछ ही मनुष्य जन्म इतना दुर्लभ है ? क्या इस के द्वारा

ही मोच मिलती है ! इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि मानव-मांस सलीब दुर्लभ वस्तु है। परन्तु धर्मशास्त्रकारों का मतानुसार, इसके कुछ और ही रहा हुआ प्रतीत होता है। वे दुर्लभताका मार, मनुष्य-शरीर पर न डाल कर, मनुष्यत्व पर डालते हैं। बात वस्तुतः है भी मनुष्य शरीर के पा खेने मर से तो कुछ नहीं हो जाता। हम समस्त बार मनुष्य बन चुके हैं—सबे-सबे सुन्दर, सुख्य, बलवान्। कुछ नहीं हुआ। कभी-कभी तो काम की धनेषा हानि ही अधिक उठानी पड़ी है। मनुष्य तो चोर भी है, जो निर्दयता के साथ दूसरों का घन चुरा लेता है ! मनुष्य तो कमाई भी है, जो प्रतिदिन गिरीष्ट पशुओं का खून बढ़ाकर प्रसन्न होना है ! मनुष्य तो साम्राज्यवादी राजा लोग भी हैं, जिसकी राज्य-तन्त्रा के कारण लाखों मनुष्य बात की बात में रणभेदी की भेंट हो जाते हैं ! मनुष्य तो बेरवा भी है, जो रूप के बाजार में बैठकर, चन्द चांदी के टुकड़ों के लिए अपना जीवन बिगाड़ती है, और देश की उठती हुई तपस्या की भी मिट्टी में मिला देती है। आप कहेंगे, ये मनुष्य नहीं, राक्षस हैं। हाँ तो मनुष्य-शरीर पाने के बाद भी यदि मनुष्यता न प्राप्त की गई तो मनुष्य-शरीर बेकार है, कुछ लाभ नहीं। हम इतनी बार मनुष्य बन चुके हैं, जिसकी कोई गिनती नहीं। एक आचार्य अपनी कविता की भाषा में कहते हैं कि हम इतने मनुष्य शरीर प्राप्त कर चुके हैं, यदि उनके रक्त को एकत्र किया जाय तो अर्धवृक्ष समुद्र भर जाय, मांस को एकत्र किया जाय तो चांद और सूर्य तक दूध आये, हृदिदियों को एकत्र किया जाय तो अर्धवृक्ष मेढ़ बरत लगे हो जायें। आप यह है कि मनुष्य शरीर इतना दुर्लभ नहीं, जितनी कि मनुष्यता दुर्लभ है। हम जो घमी संसार सागर में गोते ला रहे हैं, इसका अर्थ यही है कि—हम मनुष्य तो बने, पर दुर्भाग्य से मनुष्यत्व नहीं पा सके, जिसके बिना किया कराया सब पूछ में मिला गया, काता-पीडा फिर से कपास होगया।

मनुष्यता कैसे मिल सकती है ? यह एक प्रश्न है, जिस पर मनुके सब धर्मशास्त्र एक स्तर से विचारा रहे हैं । मनुष्य, जीवन के दो पहलू हैं—एक अन्दर की ओर, दूसरा बाहर की ओर । जो जीवन बाहर की ओर झुकता रहता है, मंमार की मोड़नापा के अन्दर उलझा रहता है, अपने आत्म-स्व को भूल कर केवल देह का ही पुजारी बना रहता है, वह मनुष्य-भ्रम में मनुष्यता के दर्शन नहीं कर सकता ।

सोचें हैं कि—मनुष्य का समस्त जीवन देहरूपी घर की सेवा करने में ही व्योक्त होता है । यह देह आत्मा के माथ काजकल अधिक-से अधिक पण्य, सी या मर्यादा चरों के लगभग ही रहता है । परन्तु इतने समय तक मनुष्य बरता क्या है ? दिन-रात इस दातार रूपी मिट्टी के घरों की परिचर्या में ही लगा रहता है, दूसरे आत्म-कल्याण-कारी कारकबल बर्तनों का तो उसे भाव ही नहीं रहता । देह की करने के लिए कुछ बल चाहिए, इस आत्म-बल से लेकर अधर्मादि लक्ष्मियों के दंश की तरह जीवन बन्द किए, तन-मोड़ परिश्रम करता है । देह की राने के लिए कुछ दाज चाहिए, इस सुन्दर से सुन्दर वस्त्र करने के लिए वह व्यावृत्त हो जाता है । देह की रखने के लिए कुछ साधारण घर चाहिए, इस बिजने ही क्यों न व्यवहार करते रहें, गर्मियों के गर्मे करने रहें देह के मकानों पर सुन्दर भवन बनाने के लिए लूट जाता है । सारांश यह है कि—देह जरी घर की सेवा करने में, उसे आत्मा से आत्मा लगे-निजाने में, मनुष्य अपना सम्पूर्ण आत्म-बल खर बाँटता है । घर की सेवा समाप्त रहना, रसदी रस बनना, वह घर अपने का कारकबल बर्तन है, दातार घर तो जरी होना चाहिए कि, घर के लिये घर बाँटा करने करने हो लूट लूटे, बाँटकर कर दाँते । अतः जो दाँत बल में लक्ष्य ही चरों के लिए कुछ दिना-रत ही मनुष्य की दौरे-रे बनता है, तबही इच्छा सुझाव ? व्यवहार होना है मनुष्य की दौरे-रे घर । जो दाँत कर दाँते रहता है, जो दाँत कर दाँत कर रहता है, जो दाँत में लूटे कर दाँत, कर दाँत है,

कीन रह रहा है, इतना भी मान नहीं रहता । अब शरीर को ही 'मैं' कहने लग जाता है । देह के जन्म को अपना जन्म, देह के नष्ट होने को अपना मुदापा, देह की आधिपत्याधि को अपनी आधिपत्याधि, देह की मृत्यु को अपनी मृत्यु समझता है, और कार्मणिक विभीषिकाओं के कारण रोने-धोने लगता है । शास्त्रकार इस प्रकार के भौतिक विचार करने वाले देहात्मवादों को बहिरात्मा या मिथ्यादृष्टि कहते हैं । मिथ्या संकल्प, मनुष्य को अपने वास्तविक अन्तर्जगत की अपेक्षा चैतन्य की ओर झटके नहीं देते, हमेशा बाह्य जगत के भौतिक भोगविलास की ओर ही, उसे उसकावे रलते हैं । केवल बाह्य जगत का द्रव्य मनुष्य आकृतिमात्र से मनुष्य है, परन्तु उसमें मोक्षमायक मनुष्यत्व नहीं ।

मनुष्य जीवन का दूसरा पहलू अन्तर की ओर झटकना है । अन्तर की ओर झटकने का अर्थ यह है कि मनुष्य देह और आत्मा को पृथक्-पृथक् वस्तु समझता है, जड़जगत की अपेक्षा चैतन्य को अधिक महत्व देता है, और भोग विलास की ओर से आत्में बन्द करके अन्तर में रहे हुए आत्मगत को देखने का प्रयत्न करता है । शास्त्र में उन्हें जीवन को अन्तरात्मा या सम्बन्ध दृष्टि का नाम दिया है । मनुष्य के जीवन में मनुष्यत्व की भूमिका यहीं से शुरू होती है । अधोमुखी जीवन को ऊर्ध्वमुखी बनाने वाला सम्बन्धदर्शन के अतिरिक्त और कौन है ? यही वह भूमिका है, जहाँ अनादि काल के अज्ञान अन्धकाराच्छा जीवन में सर्वप्रथम सत्य की सुनहली किरण प्रस्फुरित होती है ।

पाठकों ने समझ लिया होगा कि मनुष्य और मनुष्यत्व में क्या अन्तर है ? मनुष्य का होना दुर्लभ है, या मनुष्यत्व का होना ? सम्बन्ध दर्शन मनुष्यत्व की पहली सीढ़ी है । इस पर चढ़ने के लिए अपने आपको कितना बदलना होता है, यह अभी ऊपर की पंक्तियों में ज़िह्न



प्रयत्न किया था। उनके सभी प्रवचन मनुष्यता की माँकी से जगमगा रहे हैं। अब भाँप यह देखिए कि भगवान मनुष्यत्व के विकास का किस प्रकार धर्यान करते हैं।

## मनुष्यत्व का विकास

जैन धर्म के अनुसार मनुष्यत्व की भूमिका चतुर्थ गुण स्थान=सम्यग्दर्शन से प्रारंभ होती है। सम्यग् दर्शन का अर्थ है—‘सत्य के प्रति षट् विरपास !’ हां तो सम्यग् दर्शन मानव जीपन की बहुत बड़ी विभूति है, बहुत बड़ी आध्यात्मिक उत्थान्ति है। अनादि काल से अज्ञान अन्धकार में पड़े हुए मानव को सत्य सूर्य का प्रकाश मिल जाना कुछ कम महत्त्व की चीज नहीं है। परन्तु मनुष्यता के पूर्ण विकास के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है। अकेला सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्-दर्शन का सहचारी सम्यग् ज्ञान=सत्य की अनुभूति; आत्मा को मोक्षपद नहीं दिला सकते, कर्मों के बन्धन से पूर्णतया नहीं छुड़ा सकते। मोक्ष प्राप्त करने के लिए केवल सत्य का ज्ञान अथवा सत्य वा विरपास पर लेना ही पर्याप्त नहीं है; इसके साथ सम्यक् आचरण की भी बड़ी भारी आवश्यकता है।

जैनधर्म का यह ध्रुव सिद्धान्त है कि ज्ञान और कर्म दोनों मिलकर ही आत्मा को मोक्षपद का अधिकारी बनाते हैं। भारतीय दर्शनों में न्याय, सांख्य, वेदान्त आदि कितने ही दर्शन केवल ज्ञान मात्र से मोक्ष मानते हैं, उह कि मानासिक आदि दर्शन केवल आचार=क्रियावाक्य से ही मोक्ष स्वीकार करते हैं। परन्तु जैन धर्म ज्ञान और विद्या दोनों के संयोग से मोक्ष मानता है, किसी एक से नहीं। यह अमिद बात है कि यह के दो पक्षों में से यदि



एक चक्र न हो तो सब की गति नहीं हो सकती । तथा च सब का एक चक्र बड़ा और एक चक्र छोटा हो तब भी सब की गति भली भौति नहीं हो सकती । एक पौल से आगमक कोई भी वही आकाश में नहीं उड़ सका है । अस्तु भगवान् महावीर ने स्पष्ट बतलाया है कि 'यदि तुम्हें मोक्ष की सुदूर भूमिका तक पहुँचना है तो अपने जीवभरण के ज्ञान और सदाचरण रूप दोनों ही चक्र लगाने होंगे । केवल लगाने ही नहीं, दोनों चक्रों में से किसी एक को मुख्य या गौण बनाकर भी चाल नहीं चल सकेगा, ज्ञान और आचरण दोनों को डीक बराबर मुद्र रखना होगा ।' ज्ञान और विद्याकी दोनों पौलियों के बल पर ही, वह आत्मपत्नी, निधेवस की ओर कर्षणमग्न कर सकता है ।

स्वार्भाग सुख में मनु महावीर ने चार प्रकार के मानव जीवन बतलाए हैं:—

(१) एक मानव जीवन वह है, जो सदाचार के स्वरूप को तो पहचानता है, परन्तु सदाचार का आचरण नहीं करता ।

(२) दूसरा वह है, जो सदाचार का आचरण तो अचरय करता है, परन्तु सदाचार का स्वरूप भली भौति नहीं जानता । अथवा बंद किए गति करता है ।

(३) तीसरा वह स्थिति है, जो सदाचार के स्वरूप को समर्थ रूप से जानता भी है और अनुसार आचरण भी करता है ।

(४) चौथी भेदीका वह जीवन है, जो न तो सदाचार का स्वरूप जानता है और न सदाचार का कभी आचरण ही करता है । वह शौचिक भाषा में अन्धा भी है, और पाण्डीत पंगुजा भी है ।

उक्त चार विकल्पों में से केवल तीसरा विकल्प ही जो सदाचार को जानने और आचरण करने रूप है, मोक्ष की स्थापना को सफल बनाने वाला है । सांख्यिक जीवन-वादा के सिद्ध ज्ञान के मैत्र और आचरण के वैर अतीव आवश्यक हैं ।

सैन परिभाषा में आचरण को चारित्र्य कहते हैं । चारित्र्य का अर्थ है—

मंदन, वातनाभों का=भोगविलासों का त्याग, इंद्रियों का निग्रह, धनुम प्रवृत्ति की निवृत्ति, शुभ प्रवृत्ति की स्वीकृति ।

चारित्र्य के मुख्यतया दो भेद माने गए हैं—'सर्व' और 'देव' । अर्थात् पूर्ण रूप से त्याग वृत्ति, सर्व चारित्र्य है । और अल्पांश में अर्थात् अपूर्ण रूप से त्याग वृत्ति, देव चारित्र्य है । सर्वोत्तम में त्याग महान्तरूप होता है—अर्थात् हिंसा, अस्वल्प, धौर्ध्व, मैथुन और परिग्रह का सर्वथा प्रायास्यमान साधुओं के लिए होता है । और अल्पांश में=अमुक सीमा तक हिंसा आदि का त्याग गृहस्थ के लिए माना गया है ।

प्रस्तुत प्रसंग में मुनिधर्म का वर्णन करना हमें कमीष्ट नहीं है । अतः सर्व चारित्र्य का वर्णन न करके देवचारित्र्य का, यानी गृहस्थ धर्म का ही वर्णन करते हैं । भूमिका की दृष्टि से भी गृहस्थ धर्म का वर्णन प्रथम अवर्णित है । गृहस्थ जैन तत्त्वज्ञान में वर्णित दुरु म्यानों के अनु-सार आत्मविकासार्थी संघन भूमिका पर हैं, और मुनि पृथी भूमिका पर ।

जैनगनों में गृहस्थ=भारत के बाहर देशों का वर्णन किया है । उसमें पाँच अशुभ होते हैं । 'अशु' का अर्थ 'क्षोभ' होता है, और अशु का अर्थ 'प्रतिज्ञा' है । साधुओं के महान्तों की अनेक गृहस्थों के हिंसा आदिके त्याग की प्रतिज्ञा नपाँदित होती है; अतः वह 'अशुभ' है । तीन दुष्टता होते हैं । दुष्ट का अर्थ है विरोधता । अशु जो निम्न पाँच अशुभों में विरोधता उत्पन्न करने हैं, अशुभों के पात्रन में उत्पन्नक रूप महान्त होती है, वे 'दुष्टता' कहलाते हैं। बार सिद्धा अर्थ हैं । सिद्धा का अर्थ सिद्ध अन्वय है । जिनके द्वारा धर्म की सिद्धा सी जाय, धर्म का अन्वय किया जाय, वे प्रतिदिन अन्वय करने के योग्य निम्न 'सिद्धान्त' करे जाते हैं ।

### पाँच अशुभतः—

(१) तूट हिंसा का त्याग । बिना किसी अस्वल्प के धर्म ही जनों को मारने के विचार से, प्रायश्चित्त करने के संबन्ध में मारने का





त्याग करना आवश्यक है। काम धामना को उहीँस करनेवाले मिनेमा देखना, गंदे उपन्यास पढ़ना, गंदी मजाक करना, स्वयं ही शस्त्रादि का संग्रह कर रखना आदि अनर्थ दृष्ट में सम्मिलित हैं।

### चार शिक्षा यतः—

(१) सामायिक—दो पक्षों तक पापकारी व्यापारों का त्याग कर समभाव में रहना सामायिक है। राग द्वेष बड़ाने वाली प्रवृत्तियों का त्याग कर मोह भावा के दुःसंस्पर्शों को हराना, सामायिक का मुख्य उद्देश्य है।

(२) देशावकाशिक—जीवन भर के लिए स्वीकृत दिशा परिमाण में से और भी निम्न प्रति गमनादि की सीमा कम करते रहना, देशावकाशिक यत है। देशावकाशिक यत का उद्देश्य जीवन को निम्न प्रति की बाह्य प्रदेशों में आत्मनिष्ठ रूप पाप क्रियाओं से बचाकर रखना है।

(३) वैयर्थ्यजनक—एक दिन और एक रात के अल्प समयपर्यंत, पुण्यभासा आदि शस्त्र, शस्त्रधारण आदि सामायिक पापयुक्त प्रवृत्तियों को छोड़ कर, एकल स्थान में साधुवृत्तिके समान धर्म—क्रिया में आरुढ़ रहना, वैयर्थ्यजनक है। यह धर्मसाधना निराहार भी होती है, और शक्ति व हो तो अन्य सामुक्त जीवन के द्वारा भी की जा सकती है।

(४) अनाधिभार-भोग यत—साधु भावक आदि योग्य सदाचारी अधिकारियों को उचित ज्ञान करना, यत्नयुक्त यत का स्वरूप है। संग्रह ही जीवन का उद्देश्य नहीं है। संग्रह के बाद वधानुसार अनिधि की सेवा करना भी मनुष्य का महान कर्तव्य है। अनिधिसंविभाग का एक कक्ष रूप, हर किसी भूखे गरीब की धनदुर्लभा बुद्धि से सेवा करना भी है, यह ध्यान में रह।

मनुष्यता के विकास की यह प्रथम भेदी पूर्ण होती है। दूसरी भेदी साधु जीवन की है। यह साधु जीवन की भेदी, बड़े गुण स्थान से प्रारम्भ होकर नेरहते गुणस्थान में दीवन्त ज्ञान प्राप्त करने पर



परोविजयजी सामायिक को संपूर्ण इन्द्रांग विन बायी का रहस्य बताते हैं—सकल द्वादशांगेनियद् मृत सामायिक स्वरूप—तन्वार्थदीका । अस्तु मनुष्यता के पूर्ण विकास के लिए सामायिक एक सर्वोच्च साधन है । अतः हम मात्र पाठकों के समक्ष इसी सामायिक के शुद्ध स्वरूप का विवेचन करना चाहते हैं ।

## सामायिक का शब्दार्थ

सामायिक शब्द का अर्थ बड़ा ही विज्ञाप्य है। व्याकरण के नियमानुसार, प्रत्येक शब्द का भाव, उसी में अन्तर्हित रहता है। अतएव सामायिक शब्द का संक्षीर एवं उद्गार भाव भी, उसी शब्द में घुसा हुआ है। हमारे प्राचीन जैनाचार्य हरिभद्र, मत्तपगिति आदि ने सिद्ध-निष्ठ व्युत्पत्तिपत्रों के द्वारा, यह भाव, मंथन में इस भाँति प्रकट किया है।

(१) भगवन्—गम दूषणान्नवर्जितानां अपरत्यक्त आनः तानः सन्तानः सन्तान एव सामायिकम् । शब्दार्थ में मध्यस्थ रहना सम है, अस्तु साधक को मनस्वर मध्यस्थ भाव आदि का जो आय-लान है, वह सामायिक है।

(२) भगवन्—गमदरान्नवर्जितानां, तेषु अन्नमन्नमन्नं सन्तानः, स एव सामायिकम् । मोक्ष मार्ग के साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य सम कहलाते हैं; उनमें अन्न यात्री प्रवृत्ति करना, सामायिक है।

(३) भगवन्—गमदरान्नवर्जितानां, तेषु अन्नमन्नमन्नं सन्तानः, स एव सामायिकम् । सब जीवों पर मैत्रीभाव रखने को साम कहते हैं, अतः साम का साम विषय हो, वह सामायिक है।

(४) भगवन्—गमदरान्नवर्जितानां, तेषु अन्नमन्नमन्नं सन्तानः, स एव सामायिकम् । साधक योग अर्थात् पाद कर्मों का परित्याग और निरवध योग अर्थात् अहिंसा, दया





: ६ :

## सामायिक का रुढ़ार्थ

रुढ़ार्थ के अतिरिक्त रुढ़ का रुढ़ अर्थ भी हुआ करता है। यथो-  
मान में प्रचलित प्रत्येक धार्मिक विषय का जो रुढ़ार्थ है, वह ऊपर में  
तो बहुत संक्षिप्त, सीमित एवं स्थूल मान्य होता है; परन्तु उमने रहा  
हुआ मान्य, हेतु या रहस्य बहुत ही गंभीर, विस्तृत एवं विचारपूर्ण  
मनन करने योग्य होता है।

सामायिक विषय, जो एक बहुत ही परिश्रम एवं विस्तृत विषय है,  
उमका रुढ़ार्थ यह है कि—'एकान्त स्थान में शुद्ध आसन दियाकर शुद्ध  
बस्त्र अपांद् चत्न हिमा में बना हुआ, सादा (रंग पिरंगा नवकोला  
मही) खादी आदि का बस्त्र परिधान कर, दो बड़ी तक करेनिर्मते के  
पाठ से सादर स्मरणों का परिष्कार कर, सांसारिक भ्रमों से दल्लग  
होकर, अपनी योग्यता के अनुसार अध्ययन, विन्तन, प्यान, उद धन-  
कषा आदि करना सामायिक है।'

क्या ही अर्थात् ही, रुढ़ार्थ रुढ़ार्थ से और रुढ़ार्थ रुढ़ार्थ से  
नित जाय, माने में सुगन्ध होजाय।

‘समता का सकल उपासक होता है, उसी की सामायिक विगुहता की ओर घब्रमर होती है ।

प्राचीन आगम अनुयोग द्वार मूत्र में तथा आचार्य भद्रबाहु स्वामी कृत आवरणक नियुक्ति में समभाव सामायिक का क्या ही सुन्दर वर्णन किया गया है:—

जो समो रुन्धमूषसु  
तसेनु पावरेनु य ।  
तस्म सामाश्यं होइ,  
इह केवलि-भामियं ॥

‘जो साधक ब्रह्म स्थावर रूप सभी जीवों पर समभाव रखता है उसी की सामायिक शुद्ध होती है—ऐसा केवली भगवान ने कहा है ।’

अस्म नामाशित्यो अग्या,  
संजमे धियमे तवे ।  
तस्म सामाश्यं होइ,  
इह केवलि-भामियं ॥

‘जिसकी आत्मा संयम में, तप में, नियम में सन्निहित-संलग्न हो जाती है, उसी की सामायिक शुद्ध होती है—ऐसा केवली भगवान ने कहा है ।’

आचार्य हरिभद्र पंचमांक में लिखते हैं—

समभारो सामाश्य,  
तथ-कचरु-सत्सुमित्त विसउत्ति ।  
शिरुधिरसंग चित्त,  
उचिय पवित्तिमदाण च ॥

‘चाहे तिमका हो चाहे सोना, चाहे शत्रु हो चाहे मित्र, सर्वत्र अपने मनकी राग-द्वेष की आसक्ति से रहित शान्त रक्षता तथा पापरहित उचित धार्मिक प्रवृत्ति करना, सामायिक है, क्योंकि समभाव ही तो सामायिक है ।’

## द्रव्य और भाव

जैसे धर्म में अनेक वस्तु का द्रव्य और भाव की दृष्टि से बहुत समीर विचार किया जाता है। अतएव मान्नायिक के लिए भी प्रश्न होता है कि द्रव्य मान्नायिक और भाव मान्नायिक का स्वरूप क्या है ?

१ द्रव्य मान्नायिक—द्रव्य का अभिप्राय यहाँ ऊपर के विधि-विधानों तथा मापनों से है। अतः मान्नायिक के लिये आत्मन विद्याना, राज्ञे-हस्य का पूँजरी रखना, मुग्धवस्त्रिका कांधना गृहस्थ वेप के करने उडातना, माता केरना आदि द्रव्य मान्नायिक है। द्रव्य मान्नायिक का वर्णन द्रव्य-शुद्धि, वेप-शुद्धि आदि के वर्णन में अच्छी तरह किया जाने जाता है।

२ भाव मान्नायिक—भाव का अभिप्राय यहाँ अन्तर्हृदय के भावों से विचारों से है। अतएव राग-द्वेष से रहित होने के भाव रखना, राग-द्वेष से रहित होने के लिए प्रयत्न करना, यदातदा राग-द्वेष से रहित होते

१ शृंगार मन्दाग के दो भाग हैं स्थानकपानी और मूर्ति पूजक। स्थानक कपानी स्थान में मुग्ध पर मुग्धवस्त्रिका लगाने की प्रवृत्ति है। और मूर्तिपूजक मन्दाग में मुग्धवस्त्रिका की हाथ में रखने की प्रवृत्ति है। इन दोनों स्थान कपानी के लिये मुग्ध पर लगाने का विधान, उनके मत में है। शृंगार तीन प्रवृत्ति में दो आश्रय मान्नायिक की प्रवृत्ति ही नहीं है। उनके यहाँ मान्नायिक के लिये एक तरह सेट्टा जाता है और मुग्धवस्त्रिका का कोई विधान नहीं है।



है। यदि द्रव्य के साथ भाव का ठीक-ठीक सामंजस्य न भी बैठ सके, तो भी कोई आपत्ति नहीं। अन्यास चालू रखना चाहिये। धरुद्ध करने वाले किसी दिन शुद्ध भी करने के योग्य हो जाएंगे। परन्तु जो बिलकुल ही नहीं करने वाले हैं, वे क्यों कर आगे बढ़ सकेंगे? उन्हें तो कोरा ही रहना पड़ेगा न? जो दृष्टि धोलते हैं, वे बालक एक दिन स्पष्ट भी होलें सकेंगे। पर मूक क्या करेंगे?

भगवान् महावीर का आदर्श 'कटे मारे कड़' का है। जो मनुष्य साधना के क्षेत्र में चल पड़ा है, भले वह थोड़ा ही चला हो, परन्तु चलने वाला यात्री ही समझा जाता है। जो यात्री हजार मील संघी यात्रा करने को चला हो, अभी गाँव के बाहर ही पहुँचा हो, फिर भी उसकी यात्रा में मार्ग तो कम हुआ? इसी प्रकार पूर्ण सामायिक करने की वृत्ति से यदि थोड़ा सा भी प्रयत्न किया जाय, तब भी वह सामायिक के छोटे से छोटे अंग को अवश्य प्राप्त कर लेता है। आज थोड़ा तो कल और अधिक। बूँद-बूँद से सागर भरता है।

सामायिक सिद्धा मत है। आचार्य श्री हरिमद ने कहा है— 'साधु धर्मान्नातः सिद्धा' अर्थात् जिससे थोड़ा धर्म का योग्य अन्यास हो, वह सिद्धा कहलाती है। उक्त कथन से सिद्ध हो जाता है कि— सामायिक मत एक बार ही पूर्णता अपनाया नहीं जा सकता। सामायिक की पूर्णता के लिए निरन्तर प्रयत्न का अन्यास आवश्यक है। अन्यास की शक्ति महान् है। बालक प्रारम्भ में ही वर्णमाला के अक्षरों पर अधिकार नहीं कर सकता। वह पहले, 'अष्टावक्र' की भाँति, थकिन्टेदे, मोटे-मटले अक्षर बनाता है, सौन्दर्य की दृष्टि से सर्वथा हवाश हो जाता परन्तु ज्योंही वह आगे बढ़ता है, अन्यास में प्रगति करता है, तो बहुत सुन्दर लेखक बन जाता है। लक्ष्यवेध करने वाला पहले ठीक ठीक से लक्ष्य नहीं वेध सकता, आग-पाँवा विरुद्ध हो जाता है; परन्तु निरन्तर के अन्यास से हाथ स्थिर होता है, दृष्टि चौकस्त होती है, और एक दिन का अनादी निशाने दाज, अचूक शुद्ध-भेदी ठक बन जाता है।

यह ठीक है कि सामायिक की बड़ी कठिन भाषना है, सहज ही वह संभव नहीं हो सकती। परन्तु अभ्यास करिए, आगे बढ़िए, आपकी भाषना का उज्ज्वल प्रकाश एक न एक दिन अवरुध जगमगाता नज्र आयगा। एक दिन का साधना छह महीने तक रखी, कुछ जन्मों के बाद भगवान महावीर के रूप में हिमालय जैसा महान, अद्वय-अचल साधक बनता है और समभाव के क्षेत्र में भारत की काया पसर कर देता है।

## सामायिक की शुद्धि

संसार में काम करनेका महत्त्व उतना नहीं है, जितना कि काम को ठीक करने का महत्त्व है। यह न मालूम करो कि काम-कितना किया, बल्कि यह मालूम करो कि काम कैसा किया ? काम अधिक भी किया परन्तु यह सुन्दर रंग से, जैसा चाहिए था वैसा, न किया तो एक तरह से कुछ भी न किया।

सामायिक के सम्बन्ध में भी यही बात है। सामायिक साधना की महत्ता, मात्र जैसे-जैसे साधना का बाज पूरा कर देता, एक सामायिक की दृष्टि पर-दोसरे सामायिक पर लेना नहीं है। सामायिक की महत्ता इसमें है कि आपकी सामायिक करते देखकर दूसरों के हृदय में भी सामायिक के प्रति भक्ति जागृत हो, वे लोग भी सामायिक करने के लिए उत्तम हो। आपका अपना काम बरपाए तो होता ही चाहिए। यह विद्या ही क्या, जो करने और दूसरों के हृदय में बोई काम कांचंद न देता को। परन्तु जीवित साधना ही साधना है, दृढ-साधना का बोई मूल्य नहीं है।

सामायिक करने के लिए सबसे पहले भूमिका की शुद्धि होना आवश्यक है। यदि भूमि टूट होनी है तो उसमें बोला हुआ बीज भी बर्तहासक होता है। इससे बिना यदि भूमि टूट नहीं है तो उसमें बोला हुआ बीज भी सुन्दर और सुखासु फल देने लगता है ? परन्तु सामायिक के लिए भूमिका स्वरूप पर ध्यान की शुद्धि आवश्यक है—



बुद्ध बुद्धि, चेत बुद्धि, कान्य बुद्धि और भाव बुद्धि । उक्त चार बुद्धियों के साथ ही हुई सामाजिक ही पूर्ण स्वतन्त्रता होगी है, अन्धारा नहीं । संवेन में चारों तरह की बुद्धि की स्वाध्याय इस प्रकार है—

१. ३५ गुण—सामाजिक के विषय जो भी आवश्यक, वर्य, शोहरत या १ जमी, साक्षा, मुख्य चरित्रका, पुस्तक आदि प्रथम-माध्यम आवश्यक है, इनका शुद्ध-अन्वयार्थ, अद्विष्टक एवं उपयोगी होना आवश्यक है । शोहरत आदि उपकरण, जीवों की कल्या (रक्षा) के उद्देश्य में ही रहने वाले हैं, इसलिये उपकरण केने होने चाहिये किन्तु उन्वयार्थ में अद्विष्ट विषय न हुई हो, जो निवारोन्वायक न हो, जो मौल्य की दृष्टि न न रहने गल हो, जो संवेन की अभिवृद्धि में सहायक हो, किन्तु इन जीवों की कभी भीति कल्या हो सकती हो ।

२. ३६ वाक्य सामाजिक में वाक्य संस वाक्य शुद्धगुण आत्मन लभने हैं, कल्याण सुखरता के विषय संस-विषये, शुद्धार, आत्मन बना कने हैं, वस्तु इस प्रकार के आत्मनों की कभी भीति प्रतिश्लेषता नहीं हो सकती । अत आत्मन कथा होना चाहिये, जो कने वाक्य न हो, संस-विषय न हो निवारोन्वायक नपुत्रीका न हो, मिथी में अत हुआ न हो । किन्तु संस-वाक्य वा संस वा, वाक्य हो, सहायक ही संस लक्ष्य का हो ।

३. शोहरत या १ जमी की योग्य होगी चाहिये, किन्तु कभी-कभी कभी की लक्ष्य का अत न हो । इस काम केने १ जमी लभने हैं, जो लक्ष्य का कभी हुई होगा है जो अत लक्ष्य का उद्देश्य के काम की बीज है अतः लक्ष्य लक्ष्य १ जमी का नहीं । १ जमी का कथा काम, अन्तुन माध्यम लक्ष्य के लक्ष्य में ही होगा है । अत १ जमी का कथा कथा-कथा लक्ष्य है अतः लक्ष्य के अत न अत का उद्देश्य में नहीं लक्ष्य ।

सुधारकता की लक्ष्यता पर अतः लक्ष्य लक्ष्य लक्ष्य की लक्ष्य-लक्ष्य है । लक्ष्य-लक्ष्य के लक्ष्य लक्ष्य-लक्ष्य लक्ष्य लक्ष्य, लक्ष्य लक्ष्य

रखते हैं कि जिससे जनता घृणा करने लग जाती है। धर्म तो उपकरण की शुद्धता में है, उसका ठीक ढंग से उपयोग करने में है, उसे गंदी एवं धीमत्स रखने में नहीं। कुछ बहनें सुखवस्तिका की गहना ही बना रख छोड़ती हैं, गोया लगाती हैं, सलने में सजाती हैं, मोती जड़ती हैं परन्तु ऐसा करना सामाधिक के शान्त एवं मनताम्य वातावरण को कलुषित करना है, अतः सुखवस्तिका का सादा-स्वच्छ होना ही ठीक है।

बत्नों का शुद्ध होना भी आवश्यक है। इसशुद्धता का अर्थ इतना ही है कि बरग गंदी न हों, दूसरों को घृणा उत्पन्न करने वाले न हों, चट-छीले-भड़कोले न हों, रंग-बिरंगे न हों, किन्तु स्वच्छ सफ़े हों, सादे हों।

माला भी कीमती न होकर मूठ की या और कोई साधारण धोखी की हो। बटुनूप्य मोती आदि की माला मनता बढ़ानेवाली होती है, कभीकभी अहंकार आदि की अनुचित भावना भी प्रवर्ध कर देती है। सुत आदि की माला भी स्वच्छ हो, गंदी नहीं।

पुस्तकें भी ऐसी हों, जो भाव और भाषा की दृष्टि से महत्वपूर्ण हों, आत्मज्योति की जागृत करने वाली हों, हृदय में से काम, क्रोध, मद, लोभ आदि की बाहुना धीरे करने वाली हों, जिनसे किसी प्रकार का विकार एवं साम्प्रदायिक आदि विद्वेष न पैदा होता हो।

सामाधिक में गहना आदि का धारण करना भी ठीक नहीं है। जो गहने निकाले जा सकते हों, उन्हें जल्द करके ही सामाधिक करना ठीक है। अन्यथा मनता का पार सदा लगा ही रहेगा, हृदय शान्त नहीं हो सकेगा। एक भी धोती और चादर आदि के अतिरिक्त और न होने चाहिये। सामाधिक त्याग का संघ है, अतः उनमें त्याग का ही अर्थ होना अत्यावश्यक है।

पद्यरि सामाधिक में 'सर्वज्जं ओगं पच्चक्खामि' 'मावद्य दानी मादन्धारां का पत्तित्थान करता हूँ', उक्त नियमने पार कायिक त्याग का ही उल्लेख है, वस्त्र आदि के त्याग का नहीं। परन्तु हमारी प्राचीन परंपरा इसी प्रकार की है कि अनुष्ठान अलंकार तथा गृहस्थपौषित





उसे शास्त्रीय विधिविधानों के पथ पर ही चलना आवश्यक है।

२ चेत्र शुद्धि—चेत्र से मतलब उस स्थान से है, जहाँ साधक सामायिक करने के लिए बैठता है। चेत्र शुद्धि का अभिप्राय यह है कि सामायिक करने का स्थान भी शुद्ध होना चाहिए। जिन स्थानों पर बैठने से विचार धारा दृढ़ी हो, चित्त में चंचलता जाती हो, अधिक स्त्री-पुरुष या पशु आदि का आवागमन अथवा निवास हो, उसके भी साधकियों कोलाहल करते हों—लेसते हों, विषय-विकार उत्पन्न करवाले शब्द कान में पड़ते हों, इयर-उपर दृष्टिपात करने से विकार पैदा होता हो, अथवा कोई क्लेश उत्पन्न होने की सम्भावना हो, वे स्थानों पर बैठकर सामायिक करना ठीक नहीं है। आत्मा को उत्पन्न दृष्टि में पहुँचाने के लिए, अन्तर्हृदय में समभाव की पुष्टि करने के लिए चेत्र शुद्धि एक अत्यावश्यक धर्म है। अतः सामायिक करने के लिए वही स्थान उपयुक्त हो सकता है, जहाँ चित्त स्थिर रह सके, आत्म-चिन्तन किया जा सके, और गुरुजनों के संसर्ग से यथोचित ज्ञान वृद्धि भी हो सके।

जहाँ तक हो सके घर की अथवा उपाश्रय में सामायिक करने का स्थान रखना चाहिए। एक तो उपाश्रयका वातावरण गृहस्थीकी कर्मों से बिल्कुल अलग होता है। दूसरे सहधर्मों आह्वयों के परिचय से अपरिचित संस्कृति की महत्ता का ज्ञान भी होता है। उपाश्रय, ज्ञान के आदान-प्रदान का सुन्दर साधन है। उपाश्रय का शास्त्रिक अर्थ भी सामायिक के लिए अधिक उपयुक्त है। एक व्युत्पत्ति है, उप=उत्कृष्ट आश्रय=स्थान। अर्थात् मनुष्यों के लिए अपने घर आदि स्थान केवल आश्रय है; जबकि उपाश्रय इहलोक तथा परलोक दोनों प्रकार के जीवन को उन्नत बनानेवाला होने से एवं धर्मसाधना के लिए बिल्कुल उपयुक्त स्थान होने से उत्कृष्ट आश्रय है। दूसरी व्युत्पत्ति है—‘उप=उपसङ्ग से आश्रय=स्थान।’ अर्थात् निरन्तर दृष्टि से आत्मा के लिए वास्तविक आश्रय=आधार वह स्वयं ही है, और कोई नहीं। परन्तु

उक्त आत्म स्वरूप आश्रय की प्राप्ति, व्यावहारिक दृष्टि से धर्म स्थान में ही घटित हो सकती है, अतः धर्म स्थान उपाध्य कहलाता है। तीसरी व्युत्पत्ति है—‘उप=पनीर में आध्रय=स्थान।’ अर्थात् जहाँ आत्मा अपने विद्युद् भागों के पास पहुँच कर आध्रय ले, वह स्थान। भाव यह है कि—उपाध्य में बाहर की सांसारिक गड़बड़ कम होती है, चारों ओर की प्रकृति शांत होती है, एकमात्र धार्मिक वातावरण की महिमा ही मन्तव्य रहती है; अतः सर्वथा एकान्त, निरानय, निरुप-द्रव एवं कायिक, वाचिक, मानसिक दोष से रहित उपाध्य सामायिक के लिए उपयुक्त माना गया है। यदि घर में भी ऐसा ही कोई एकान्त स्थान हो, तो वहाँ पर भी सामायिक की जा सकती है। शास्त्रकार का अनिवाद्य शान्त और एकान्त स्थान में है, फिर वह कहाँ भी मिले।

३ काल गुरुति—काल का धर्म सनप है, अतः योग्य समय का विचार रखकर जो सामायिक की जाती है वही सामायिक निर्विघ्न तथा शुद्ध होती है। बहुत से सज्जन सनप की उचितता अथवा अनुचितता का मिलुल विचार नहीं करते, यों ही जब जी चाहा तभी अयोग्य सनप पर सामायिक करने बैठ जाते हैं। फल यह होता है कि सामायिक में मन शान्त नहीं रहता, अनेक प्रकार के संकल्प विकल्पों का प्रवाह मस्तिष्क में तूफान खड़ा कर देता है, सामायिक का गुहगोबर हो जाता है।

आजकल एक बुरी धारणा चल रही है। यदि घर में किसी को बीमारी हो, और दूसरा कोई सेवा करनेवाला न हो, तब भी बीमार को सेवा को छोड़ कर लोग सामायिक करने बैठ जाते हैं। यह प्रथा उचित नहीं है। इस प्रकार सामायिक का महत्व घटता है, दूसरों पर बुरी धार पड़ती है। वह काल सेवा का है, सामायिक का नहीं। दशवैकाल में कहा है—‘काले कालं स्नाने’ जिन कार्य का जो समय हो, उस समय वही कार्य करना चाहिए। यह कहाँ का धर्म है कि घर में बीमार कराहता रहे और तुम उधर सामायिक में स्तोत्रों की मढ़ियाँ लगाते

पवन में भी मूक है। वह प्रभञ्जक रात्रि जैसे महाभाषों को भी चम्पु हुन लैये अग्न समग्र में सालगीं गरक के द्वार तक पहुँचा देता है और फिर वायव्य सौकर केवल ज्ञान—केवल दर्शन के द्वार पर लड़ा कर देता है। गर्मी तो कहा है, 'अग्नीनेना जगती रिक्ता'—'मन का जीनेने बाधा, जगल का जीनेने बाधा है।' मनुष्य की शक्ति धारण है, वह जाने तो मन पर अपना अत्यन्त शासन चला सकता है। इसके बिना लज करना, ध्यान करना, सम्मोहित्य का अवलोकन करना असंभव है। अतः मे चानी 'महामंत्र नवकार' नामक धर्मग्रन्थ में इस विषय पर अत्यन्त प्रकाश डाला है।

१ पवन गुहे—मन एक गुप्त एवं परोक्ष शक्ति है, अतः वहाँ प्रवेश कृत्त करना, कठिनता है। परन्तु वचन शक्ति तो प्रगट है, इसपर तो प्रत्यक्ष नियन्त्रण का संपूर्ण स्वभाव आ सकता है। अतः तो सामायिक करने समय वचन को गुप्त ही रखना चाहिए। यदि इनका न हो सके तो कम-से-कम वचन गमिति का शासन तो करना ही चाहिए। इसके बिना वह ध्यान में रखना चाहिए कि साधक सामायिक मन में कर्षण, कटोर, और दूसरे के कार्य में रित्त डालने वाला वचन न बोले। साधक अर्थात् क्रिया के दिग्गी जीव की दिशा हो, ऐसा वचन भी न बोले। बोध में, मान में, भावा में, बोध में वचन बोझना भी निषिद्ध है। किसी की बात-वृत्ति के लिए जेदी करना, हीन वचन बोझना, विचारन का अर्थव्यक्ति में बोझना भी होकर नहीं। अन्य भी ऐसा नहीं बोलना, जो दूसरे का अस्मान करने वाला हो, कथन का दिग्ग बाने बोलना हो। वचन सम्भारण—दुनिया का अनिर्विचल है, अतः मनुष्य को इस समय, निगमक सामायिक के समय, कही बात-वृत्ति में बानी का प्रयोग करना चाहिए। वरहे दिनदिन परिश्रम का विचार करो और फिर बोलो इस मूकक नियन्त्रण को धृति, अतः मनुष्यता को धृति है।

२ दार गुहे—कल दृष्टि का वह चर्च नहीं है कि, और की

साफ सुधरा, सजा-धजा कर रखना चाहिए। यह ठीक है कि शरीर को गंदा न रखना जाय, स्वच्छ रखना जाय; क्योंकि गंदा शरीर मानसिक-शान्ति को ठीक नहीं रहने देता, धर्म की भी हीलना करता है। परन्तु यहां काय शुद्धि से हमारा अभिप्राय कायिक संयम से है। आन्तरिक आचार का भार मन पर है और बाह्य आचार का भार शरीर पर है। जो मनुष्य उठने में, बैठने में, खड़ा होने में, हाथ पैर आदि को इधर-उधर हिलाने-हुलाने में विवेक से काम लेता है; असम्यक्ता नहीं दिखलाता है, किसी भी जीव को पीड़ा नहीं पहुँचाता है; वही काय शुद्धि का सच्चा उपासक होता है। जबतक हमारा बाह्य कायिक आचार शुद्ध एवं अनुकरणीय नहीं होगा, तबतक दूसरे अनुकरण प्रिय साधकों पर हम अपना क्या धार्मिक प्रभाव डाल सकते हैं? हमारे में आन्तरिक शुद्धि है या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर जनता को हमारे बाह्य-आचरण पर से ही तो मिलेगा। आन्तरिक शुद्धि की आधार भूमि, बाह्य शुद्धि ही है।



६ अविनय—सामायिक के प्रति आदरभाव न रखना, अपना सामायिक में देव, गुरु, धर्म का अविनय करना 'अविनय' दोष है।

१० अवदमान—अंतरंग भक्तिभाव से उन्माहित होकर सामायिक न करना, किसी के दबाव में या किसी की प्रेरणा से बेमार समझते हुये सामायिक करना 'अवदमान' दोष है।

### वचन के दश दोष

कुबचन, सहसाकारे

सखंद मन्वेय कणई च।

विमाहा विमोहमुद

निरयेकनो मुणमुणा दोना दम ॥

१ कुबचन—सामायिक में कुमित्र, गंदे वचन बोलना 'कुबचन' दोष है।

२ सहसाकार—बिना विचार सहसा शरिकर, अमत्य वचन बोलना 'सहसाकार' दोष है।

३ स्वच्छन्द—सामायिक में काम बुद्धि करने वाले, गंदे गीत गाना 'स्वच्छन्द' दोष है। गंदी बातें करना भी इसमें सम्मिलित है।

४ मद्येय—सामायिक के पाठ को संछेप में बोल जाना, पदार्थ रूप में न पढ़ना, संछेप दोष है।

५ कलह—सामायिकमें कलह पैदा करनेवाले वचन बोलना 'कलह' दोष है।

६ विक्रपा—बिना किसी अच्छे उद्देश्य के व्यर्थ ही मनोरंजन की दृष्टि से खी कथा, भक्त कथा, रास कथा, देश कथा करने लग जाना 'विक्रपा' दोष है।

७ दास्य—सामायिक में हँसना, कौतूहल करना एवं व्यंगपूर्ण शब्द बोलना 'दास्य' दोष है।

८ अशुद्ध—सामायिक का पाठ अंशुदी-अशुदी शुद्धि का ध्यान रखे बिना बोलना, या अशुद्ध बोलना 'अशुद्ध' दोष है।

६ निरपेक्ष—साम्नायिक में शास्त्र की उपेक्षा करते पाठ्य पोलना अध्यापित सावधानी के वचन पोलना 'निरपेक्ष' दोष है।

१० भुम्भन—साम्नायिक के पाठ आदिका स्पष्ट उच्चारण न करना, किन्तु धुनधुनाते हुए पोलना 'भुम्भन' दोष है।

## काय के बारह दोष

बुद्धाग्रं चक्षुःश्रोत्रं चान्निद्रं च ।

स्वस्वकचरितं तद्वत्तुच्छास्त्रं च ।

अज्ञानमभेदमज्ञानविनाशं

निरापेक्षमवति वाग्यं वाग्यं ॥

१ बुद्धाग्र—साम्नायिक में पैर पर पैर चलाकर अभिमान से बैठना अध्यापित महाशक्ति आदि के समस्त अधिपति के आसन से बैठना, 'बुद्धाग्र' दोष है।

२ चक्षुः—एक आसन से बैठकर साम्नायिक करना, अध्यापित विचार आसन से न बैठकर बार बार आसन बदलते रहना, 'चक्षुः' दोष है।

३ श्रोत्रं—छेदनी शक्ति की विचार न करना, बार-बार कभी ध्यान तो कभी उधर होना 'श्रोत्रं' दोष है।

४ निद्रा—नींद से स्वयं साधक धारमुक्त किया करना, या दूसरों को मर्दप करना, तथा घर की रखवाली बगैरह करना 'निद्रा' दोष है।

५ अज्ञान—जिसे किसी योगिनि काय के दोषों आदि का महत्ता छेका होना, 'अज्ञान' दोष है।

६ अभेद—अज्ञान—जिसे किसी योगिनि को भ्रम होना दोषों की भिन्नता और समानता करना 'अभेद' दोष है।

७ विनाश—साम्नायिक में बैठे हुए आसन करना, अध्यापित होना 'विनाश' दोष है।



## अठारह पाप

सामाजिक के पाठ में जो 'सावज्जं जोगं पच्छक्खानि' कहा जाता है, वहाँ सावज्ज का अर्थ सावध है, अर्थात् अवध=पाप, उसमें सहित । भाव यह है कि सामाजिक में उन सब बातों का त्याग करना होता है, जिनके करने से पाप कर्म का बन्ध होता है, आत्मा में पाप का स्तब्ध जाता है ।

साधकगणों ने पाप की व्याख्या करने हुए अठारह सामाजिक कार्यों में पाप बताया है । उन अठारह में से कोई भी कार्य करने पर पाप-कर्म का बन्ध होकर आत्मा भारी हो जाता है । और जो आत्मा कर्मों के बोझ से भारी हो जाता है, वह बड़ा-बड़ा समझाव दे, आध्यात्मिक अभ्युदय की प्राप्ति नहीं कर सकता । उसका पतन होता अनिवार्य है । संसार में अठारह पापों की व्याख्या इस प्रकार है—

१. मात्सर्यभाव-हिंसा करना । जीव बचपि शिष्य है, बड़ा बड़ा भी माता है और न भोग । अतएव जीवहिंसा का कर्तव्य है कि, जीव ने कपटे छिपे जो मर, पच, शरीर एवं इन्द्रिय आदि प्राणरूप सामग्री एकत्रित की है, उसको नष्ट करना, यदि पहुँचाया, मिला है । साधारण मूल में कहा है कि 'अमरयोगो मात्सर्ययोगो हि'—अर्थात् बौद्ध, जैन, सादा, बौद्ध आदि विभिन्न की अमरयोग से विभिन्न भी प्राणी के प्राणी को विभिन्न की प्रकार का अनाद्य पहुँचाया 'हिंसा' है ।

२. मृपावाद=मूठ बोलना । जो बात जिस रूप में हो, ठमको उस रूप में न कहकर विपरीत रूप में कहना, वास्तविकता को झिगना 'मृपावाद' है । किसी भी जनपद या ना समस्त व्यक्ति को नोचा दिखाने की दृष्टि से, उसे जनपद या केवलकृष्ण आदि मूल्य वचन कहना भी मृपावाद है ।

३. अदत्तादान=चोरी करना । जो पदार्थ छपना नहीं, किन्तु दूसरे का है, उसको मालिक को आज्ञा के बिना छिपाकर गुप्त रीति से ग्रहण करना 'अदत्तादान' है । केवल छिपाकर छुराना ही नहीं, प्रयुक्त दूसरे के अधिकार को वस्तु पर अव्यक्त रूप से अधिकार जमा देना भी 'अदत्तादान' है ।

४. मैथुन=व्यभिचार सेवन करना । मोह दशा से विकृत होकर स्त्री का पुन्य पर, या पुन्य का स्त्री पर आसन होना, वेद कर्मग्रन्थ शृंगार सम्बन्धी चेटा करना, मानसिक, वाचिक और काव्यिक क्रिया भी काम विकार में प्रवृत्त होना 'मैथुन' है । कामवासना मनुष्य की मध्यमे वही पुर्ववृत्ता है । इसके कारण अच्छा से अच्छा मनुष्य भी, चाहे जैसा भी अदृश्य कार्य महत्ता कर हासिलता है, आत्मभाव को भूष जाता है । एक प्रकार से मैथुन पत्तों का राजा है ।

५. परिग्रह—समतावृद्धि के कारण वस्तुओं का अनुचित समग्र करना या आनन्दकला में अधिक समग्र करना परिग्रह है । वस्तु छोटी हो या बड़ा, जब हो या सेवन, चाहे जो भी हो उसमें आनन्द हो जाना, उसकी प्राप्त करने की क्षमता से विवेक की ओर बैठना 'परिग्रह' है । परिग्रहकी वास्तविक परिभाषा मूर्खता है । अनन्य वस्तु हो या न हो, वस्तु यदि लभ्यवर्गी मूर्खता हो तो वह सब परिग्रह ही माना जाता है ।

६. मोघ—जिसा कारण से अथवा बिना कारण ही करने आप को तथा दूसरों को दुःख करना 'मोघ' है । जब मोघ होता है, तब अज्ञान पर क्रोध भी दितावित नहीं मूल्यता है । मोघ, कलह का मूल है ।

७. मान—दूसरों को दुःख तथा स्वयं को महान समझना 'मान'

है। अभिमान की प्रकृति आवेश में आकर सभी-सभी ऐसे क्रमशः सन्तों का अयोग्य बन जाती है, जिसे सुनकर दूसरे को बहुत दुःख होता है, और दूसरे के हृदय में प्रकृति विना की भावना जागृत हो जाती है।

८. माया—अपने स्वार्थ के लिये दूसरों को छानने या धोखा देने की जो चेष्टा की जाती है, उसे माया कहते हैं। माया के कारण दूसरे प्राणी को बुरा में देखना पड़ता है, अतः माया भयंकर पात्र है।

९. लोभ—हृदय में किसी भी भौतिक पदार्थ की अत्यधिक चाह लगने का नाम 'लोभ' है। लोभ ऐसा दुर्गुण है कि जिसके कारण सभी प्राणी का अन्धकार बिना जा सकता है। दार्शनिक मूल में लोभ, मान, माया से तो ऐसे-के सदगुण का ही नाम बताया है, परन्तु लोभ को सभी सदगुणों का नाश करने वाला बनाया है।

१०. राग—किसी भी पदार्थ के प्रति मोहकप—आकर्षक-पक्ष होने का नाम 'राग' है। अथवा दार्शनिक मूल की अभिलाषा को भी राग कहते हैं। पात्र में कोई भी भौतिक वस्तु अपनी नहीं है, हम तो मात्र आत्मा हैं और आत्मा ही केवल अपने हैं। परन्तु जब हम किसी वस्तु को अपनी और मात्र अपनी ही मान लेते हैं, तब उसके प्रति राग होता है। और जहाँ राग है, वहाँ सभी अर्थ संभव हैं।

११. द्वेष—अपनी प्रकृति के अन्विष्ट कुछ बात सुनकर या कोई काम देखकर जोर उठाना, द्वेष है। द्वेष होने पर अत्यन्त घटा हो जाता है। अतः वह जिस पदार्थ का प्राणी को अपने जिसे बात लगवता है, अत्यन्त उसका नाश करने के लिये निश्चय हो जाता है, अपने विचारों का अन्तिम साधक बन के होता है।

१२. अहं—किसी भी अन्तर्गत सत्त्व के लिये पर कुछ बात होने में सम्पन्न करने वाला 'अहं' है। अहं से अपनी आत्मा को भी परित्याग होता है, और दूसरी होती। अहं करने वाला व्यक्ति, कहीं भी जाने नहीं पा सकता।

१३. अम्मास्थान—किसी भी मनुष्य पर कल्पित बदनाम लेकर मूढ़ा दोषारोपण करना, मिथ्या कथंक संगाना 'अम्मास्थान' है।

१४. पैशुन्य—किसी मनुष्य के सम्बन्ध में गुगली खाना, हथ की बात उभर खगाना, बारू बनना 'पैशुन्य' है।

१५. पर परिवाद—किसी की उन्नति न देख सकने के कारण उसकी मूढ़ी सन्धी निन्दा करना, उसे बदनाम करना 'परपरिवाद' है। परपरिवाद के मूल में डाह का विष अंगूर सुपा हुआ रहता है।

१६. रति धरति—अपने वास्तविक आत्म-स्वरूप को मूल पर जब मनुष्य परभाव में रौनटा है, विषय ओगों में आगन्ध मानता है, तब वह अनुकूल वस्तु की प्राप्ति से हर्ष तथा प्रतिकूल वस्तु की प्राप्ति से दुःख अनुभव करता है, इसका नाम 'रति धरति' है। रति धरति के रौगुल में रौंसा रहने वाला व्यक्ति, बीतराज भावना से सर्वथा परा-मुक्त हो जाता है।

१७. माया मूषा—कण्ठ सहित कूड बोलना। अर्थात् इस तरह बाजाकी से बातें करना या ऐसा काम कपेट का व्यवहार करना कि जो प्रकट में तो साथ दिलचस्पी है, परन्तु वास्तव में हो कूड। जिस सत्याभास रूप असत्य को सुनकर दूसरा व्यक्ति सत्य मान ले, माराज न हो, वह 'माया मूषा' है। आश्रकज जिसे पॉलिस्ती कहते हैं, 'बड़ी शास्त्रीय परिभाषा में 'माया मूषा' है। यह पाप असत्य से भी भयंकर होता है। आज के युग में इस पाप ने इतने पाँव पसारे हैं कि कुछ कह नहीं सकते।

१८. मिथ्या दर्शन शक्य—शक्य में अतत्त्व बुद्धि और अतत्त्व में तत्त्वबुद्धि रखना, जैसे कि देव को कुदेव और कुदेव को देव, गुद को कुगुद और कुगुद को गुद, धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म, जीव को जड़ और जड़ को जीव मानना 'मिथ्या दर्शन शक्य' है। मिथ्यात्व समस्त पापों का मूल है। आध्यात्मिक प्रगति के लिए मिथ्यात्व विष वृक्ष का उन्मूलन करना, अतीव आवश्यक है।





: १२ :

## सामायिक के अधिकारी

साधना सभी कलशनी होती है, जबकि उसका अधिकारी योग्य हो। अनधिकारी के पास जाकर अच्छी-से-अच्छी साधना भी निरमेज हो जाती है, वह अधिकारी तो क्या एक ईश भी साध्यात्मिक जीवन का विकास नहीं कर पाती।

आजकल सामायिक की साधना क्यों नहीं सफल हो रही है ? यह पहले सा क्षेत्र सामायिक में क्यों न रहा, जो क्या घर में ही साधक को साध्यात्मिक सुमेरु के उत्पन्न शिखर पर पहुँचा देता था ? बात यह है कि—आज के अधिकारी योग्य नहीं रहे हैं। आजकल के बहुत से लोग तो यही समझे बैठे हैं कि 'हम संसार व्यवहार में भले ही जाहे जो करें, हिंसा, मृद, थोरी, दंभ, स्वभिचार आदि पाप कार्य का कितना ही क्यों न आचरण करें, परन्तु सामायिक करते ही सब-के-सब पाप नष्ट होजाते हैं और हम भटपट मोक्ष लोके के अधिकारी होजाते हैं। संसार का प्रत्येक व्यवहार पाप पूर्ण है, अतः यही पाप किए बिना काम ही नहीं चल सकता।' उनके धारणा वाले सज्जन केवल कृत पापों से छुटकारा पाने के लिए ही सामायिक करते हैं, किन्तु कभी भी पाप कार्यके त्याग की आवश्यक नहीं समझते। इस प्रकार के धर्मपूजारी भक्तों के लिए शानियों का कथन है कि जो लोग पाप कर्म का त्याग न करके सामायिक के द्वारा केवल पापकर्म के कल से बचना चाहते हैं, वे लोग वास्तव में सामायिक नहीं करते, किन्तु धर्म के नाम पर दंभ करते हैं।



सुमतिद ग्रन्थ पौष्टक में धर्म सिद्धि की पहचान बताते हुए बहुत ही ठीक कहा है—

श्रीशर्वादादिष्व,

पापमुग्राय निर्मलो बोधः ।

सिद्धानि धर्मसिद्धेः

मादेशेन अन-प्रियत्वं च ॥८,२॥

सामायिकसे पहले अपना आधार बनाना—यह अपनी सतिकल्पना नहीं है, इसके ऊपर आगम प्रमाण का भी संरक्षण है। गृहस्थ धर्म के बारह वरों में धाय देल सकते हैं, सामायिक का नंबर बीस है। सामायिक से पहले के छह वर मायक की सामायिक वासनाओं के क्षेत्र को सीमित बनाने के लिए एवं सामायिक करने की योग्यता पैदा करने के लिए हैं। अतएव जो मायक सामायिक से पहले के अहिंसा आदि छह वरों को मज्जी भौलि स्वीकार करते हैं, उनकी सामायिक वासनाएँ सीमित हो जाती हैं और हृदय में आध्यात्मिक शान्ति के सुगन्धित पुष्प खिलने लगते हैं। यह ही नहीं, उन लोगों में यथावसर कर्तव्य और अकर्तव्य का सुमथुर विवेक भी जागृत हो जाता है। जो मनुष्य पहले पर बड़ी हुई कटारों में के दूध को शान्त रखना चाहता है, उसके लिए यह आवश्यक होगा कि वह कटारों के नीचे से जलती हुई आग को अलग करदे। आग को तो अलग न करना, केवल ऊपर से दूध में पानी के छिंटे दे देकर उसे शान्त करना, किसी भी दूरा में समभव नहीं। घुस कपट, अभिमान, अपाचार आदि दुर्गुणों की आग अब तक साधक के मन में जलती रहेगी, तब तक सामायिक के छिंटे कभी भी उसके अन्तर्हृदय में शान्ति नहीं ला सकेंगे। उक्त विवेचन रचना करने का हमारा अभिप्राय सामायिक के अधिकारी का स्वरूप ज्ञात था। अस्तु संक्षेप में पाठक समझ गए होंगे कि सामायिक के अधिकारी का क्या कुछ कर्तव्य है? उसे समस्त व्यवहार में कितना सामायिक होना चाहिए?



करता है, उसी प्रकार विरोधी के प्रति भी जो सममान की सुगन्ध फैलाने करने रूप महापुरुषों की सामायिक है, वह मोक्ष का सर्वोत्कृष्ट साधन है, ऐसा सर्वज्ञ ब्रह्म ने कहा है ।'

सामायिक एक पाप रहित साधना है । इस साधना में अरा मा भी पाप का घंटा नहीं होता । पाप क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि सामायिक के काल में चित्तवृत्ति शांत रहती है, अतः भवीन कर्मों का कल्प नहीं होता । सामायिक करते समय किसीका भी ध्येय चिन्तन नहीं किया जाता, प्रत्युत सब जीवोंके भेदके लिए विरहकरपाय की भावना भाई जाती है, कथनः आत्म स्वभावमें समझ करते-करते सायक अन्धकार-विकास की उच्च भेदियों पर बहुत हुआ आत्म-निरीक्षण करने लग जाता है, तथा अशुद्ध व्यवहार, अशुद्ध व्यापार, अशुद्ध विचार के प्रति परधात्ताप करता है, उनका त्याग करता है, अद्वारद पापों से अलग होकर आत्म जागृति के क्षेत्र में पवित्र प्र्याण के द्वारा कर्मों की निर्मला करता है । उक्त वर्णन पर से सिद्ध होता है कि सामायिक कितनी पाप रहित पवित्र क्रिया है ! अतएव आचार्य हरिमहजी ने कहा है—

निरयमिदं शेष मेकास्तेनैव तत्वनः,

कुशलशुभकृत्वा सर्वं योग-विशुद्धेतः ।

११ ॥ अष्टक

—'सामायिक कुशल=शुद्ध आशयरूप है, इसमें मन, वचन और शरीर-रूप सब योगों की विशुद्धि हो जाती है; अतः परमार्थ रात्रि से सामायिक एकान्त निरवय=पाप रहित है ।'

एक और आचार्य कहते हैंः—

सामायिक विशुद्धात्मा सर्वथा धातिकर्मः,

संघातैवनामाप्नोति, लोकालोकप्रकाशकम् ।

—'सामायिक से विशुद्ध हुआ आत्मा ज्ञानावरण आदि धातिकर्मों का सर्वथा अभांग पूर्णरूप से नाश कर लोकालोक प्रकाशक केवल ज्ञान प्राप्त कर लेता है ।'



सामाज्यमि उ कए,

समयो हए नावयो हए सभा ।

एएगु कारवोसं,

बहुतो सामाज्यं कुम्मा ॥८००॥

—'सामाजिक बात सखी सति प्रहस्य कर केने पर आपक भी बाहु जैया हो जाता है, सामाजिक दस दसा की बहुत जाता है, जसा आपक का कर्तव्य है कि वह अधिक से अधिक सामाजिक करे ।'

सामाज्य-वन-बुतो,

आव सयो होइ नियमन-बुतो ।

सिधर समुदं कामं,

सामाज्य सतिगा वाग ॥

—'बचक मन को नियंत्रण में रखने हुए जब तक सामाजिक बात की आवश्यकता बारा चालू रहती है, जब तक समुदाय काम बराबर हो रहे रहते हैं ।'

बादक सामाजिक का महत्व समझी तरह समझ गए होंगे । सामाजिक का रूप में जाना बड़ा ही कठिन है, परन्तु जब वह रूप में जा जाता है, तब फिर बेधा बार है । सामाजिकों का कहना है कि—देवता भी अपने रूप में सामाजिक मन स्वीकार करने की नीति समझना रखते हैं और जानना माने हैं कि—'यदि एक सुहृद मर के बिना भी सामाजिक मन प्राप्त हो सके तो वह मेरा देव सम्य सचक हो जाय ।' केए है कि देवता जानना मने हुए भी सामाजिक मन प्राप्त नहीं कर सके । बाकि मोह के उदय के कारण समझ का जब न कभी देवताओं ने जानाया है, और न जानना मनेते । जैव राज्य की दृष्टि से देवताओं की जानेवा सम्य अधिक सामाजिक जानना का प्रतिनिधि है । जगद सामाजिक बात करने का जेव देवताओं को न सिधकर मनुष्यों की सिधा है । जगः जगः जाने समझ का जगदोग कीजिए, हमस काम सीधकर सामाजिक की जगदोग कीजिए ! नीतिक दृष्टि के देवताओं





## भारत और रीढ़ ध्यान का त्याग

सामाजिक में समभाव को बहालता की जगह है। समभाव का कार्य राग द्वेष का परिणाम है। सामाजिक शब्द का विवेचन करते हुए कहा है कि—“सामाजिके नाम साहचर्ययोगपरवाणः । अर्थः सत्त्वोप-  
मोऽयम् ॥”—आ० ६ अ० । सामाजिक का अर्थ है ‘भावस्य अर्थान् वाच-  
कमक कर्मो का त्याग करना और निरवय अर्थान् वाचरहित कारणों का स्वीकार करना ।’ वाचकमक ही ही ध्यान साधकानों ने समझा है—  
भारत और रीढ़ । अतएव सामाजिक का अर्थवाच करते हुए कहा भी है कि—

समना सर्वभूतान् भवम शुभ-भावना ।

भारत और रीढ़ ध्यान २१६ सामाजिक मत ॥

अर्थ—‘दाते दत्ते सर्व जीवो पर समभाव रचना, वीच इन्द्रियों को काम वस में रचना हृदय में सुख और भेद भाव रचना, भारत तथा रीढ़ ध्यान का त्याग रचना । सामाजिक मत’ है ।”

उक्त अर्थ में भारत तथा रीढ़ ध्यान का परिणाम सामाजिक का अर्थ अर्थवाच जाता है । यह एक साधक के मन पर से भारत और रीढ़ ध्यान के दूरकल नहीं हटने दे, यह एक सामाजिक का अर्थ अर्थवाच नहीं करता किना या अर्थवाच ।

इति मत ११ वर ३३१ —

‘भारत और रीढ़ ध्यान’ का अर्थ है । अर्थ का अर्थ है—



आइयों को मूल कर केवल भविष्य के ही सुन्दरी स्वप्न देखते रहते हैं। घंटों के घंटों उनके इन्हीं विचारों में बीत जाते हैं कि : किम प्रकार लक्षपती बन् ? सुन्दर महल, बाग आदि कैसे बनाई ? समाज में पूज्य प्रतिष्ठा किस तरह प्राप्त करें ? उचित अनुचित का कुछ भी विचार किए बिना विलासी जीव हर प्रकार से अपना स्वार्थ गाँठना चाहते हैं।

रौद्र ध्यान के चार प्रकार—

'रौद्र' शब्द रज से उत्पन्न हुआ है। रज का अर्थ है क्रूर, भयंकर जो मनुष्य क्रूर होते हैं, जिनका हृदय कठोर होता है, वे बड़े ही भयंकर एवं क्रूर विचार करते हैं। उनके हृदय में हमेशा हृदय की व्याकुलता भयंकर होती है। उक्त रौद्र ध्यान के शास्त्रकारों ने चार प्रकार बताया है:—

(१) हिंसानन्दः—अपने से दुर्बल जीवों को मारने में, पीड़ा देने में, हानि पहुँचाने में आनन्द अनुभव करना, हिंसानन्द दुर्धर्मात् है। इस प्रकार के मनुष्य बड़े ही क्रूर होते हैं, दूसरों को रोते रोते दैतक हृदय बना ही लुप्त होता है। ऐसे लोग स्वयं ही हिंसा-कार्यों का समर्थन करते हैं।

(२) मूषानन्दः—कुछ लोग असाध्य मायस्य में बड़ी ही अभिरुचि रखते हैं। इधर-उधर भटर गस्ती करना, झूठ बोलना, दूसरे भावों भाइयों को सुझावे में बाँझ कर अपनी अनुरता पर लुप्त होना, हर समय असाध्य कल्पनाएँ बढते रहना, सत्य धर्म की निन्दा और असाध्य आचार्य की प्रशंसा करना, मूषानन्द दुर्धर्मात् में सम्मिश्रित है।

(३) चौरानन्दः—बहुत से लोगों को हर समय चोरी छुपनी का आनन्द होती है। वे जब कभी सगे सम्बन्धी के या मित्रों के पहाँ आते जाते हैं, तब वहाँ कोई भी सुन्दर चीज देखते ही उनके मुँह में पान का आग है। वे उसी समय उसके उड़ाने के विचार में लग जाते हैं। इसी मनुष्य इस दुर्विचार के कारण अपने महान् जीवन को बर्बाद

कर डालते हैं। रात दिन चोरी के सर्वस्व किकल्यों में ही अपना अमूल्य समय बर्बाद करते रहते हैं।

(४) परिग्रहानन्द—प्राप्त परिग्रह के संरक्षण में और अग्राप्त के प्राप्त करने में मनुष्य के समस्त पढ़ी ही जटिल समस्याएँ आती हैं। जो लोग सत्पुरुष होते हैं, वे तो बिना किसी को कष्ट पहुँचाए अपनी बुद्धि से समस्याएँ सुलझा लेते हैं; किन्तु दुर्जन लोग परिग्रह के लिए इतने मूर् हो जाते हैं कि वे भले-बुरे का कुछ विचार नहीं करते, दिन-रात अपनी स्वार्थ-साधना में ही लीन रहते हैं। हमेशा रौद्र रूप धारण किए रहना, अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए मूर् से मूर् उपाय सोचते रहना, परिग्रहानन्द रौद्र ध्यान है।

यह आर्त और रौद्र ध्यान का संक्षिप्त परिचय है। आर्त ध्यान के लक्षण रंका, भय, शोक, प्रमाद, कलह, चित्त भ्रम, मन की खंचलता, विषय भोग की इच्छा, उद्भ्रान्ति आदि हैं। अत्यधिक आर्त ध्यान के कारण मनुष्य जड़, मूढ़ एवं मूर्खित भी हो जाता है। आर्त ध्यान का फल अनन्त दुःखों से आहुत व्याकुल पशुगति प्राप्त करना है। उधर रौद्र ध्यान भी कुछ कम भगंकर नहीं है। रौद्र ध्यान के कारण मनुष्य को मूर्ता, दुष्टता, बटोरता, खंचवना, निर्दयता आदि दुर्गुण पारों धोर से धोर लेते हैं; और यह मर्दव खाल धारों किए, भीड़ बजाए, भयानक आहृति बनाए राक्षस जैसा रूप धारण कर लेता है। अत्यधिक रौद्र ध्यान का फल मरक गति होता है।

सामाजिक का प्राप्ति सम्भाव है, सम्भवा है। अतः साधक का कर्तव्य है कि वह अपनी साधना को आर्त और रौद्र ध्यानों से बचाने का प्रयत्न करे। कोई भी विद्यार्थील देकर सचता है कि उपपुंक्त आर्त और रौद्र विचारों के रहने हुए सामाजिक की विमुक्ति बड़ी तक रह सकती है।

: १६ :

## शुभ-भावना

मानव जीवन में भावना का बड़ा भारी महत्व है। मनुष्य अपनी भावनाओं से ही बनता विगड़ता है। हजारों लोग दुर्भावनाओं के कारण मनुष्य के शरीर को पाकर राखस बन जाते हैं, और हजारों पवित्र विचारों के कारण देवों से भी ऊँची भूमिका को प्राप्त कर लेते हैं एवं देवों के भी पूज्य बन जाते हैं। मनुष्य भ्रष्टा का, विश्वास का, भावना का बन्धा हुआ है; जो जैसा सोचना है, विचारना है, भावना करना है, वह वैसा ही बन जाता है। भद्रामयेय पुरुषः यो यच्छूद्रः स एव सः' —गीता। 'वाह्यी भावना यस्य निद्रिर्मयति तादृशी।

सामायिक एक पवित्र मत है। दिनरात का चक्र पौड़ी संकल्प-विकल्पों में, ऊपर उपर की उधेड़ नुन में निकल जाता है। मनुष्य को सामायिक करते समय दो घड़ी ही शान्ति के लिए मिलती हैं। यदि इन दो घड़ियों में भी मन की शान्ति न कर सका, पवित्र न बना सका तो फिर वह कब पवित्रता की उपपन्ना करेगा ! अतएव प्रत्येक जैनाचार्य सामायिक में शुभ भावना माने के लिए आज्ञा प्रदान कर-गए हैं। पवित्र संकल्पों का बल अन्तरात्मा की महान् आध्यात्मिक शक्ति, एवं विशुद्धि प्रदान करता है। अज्ञा से परमात्मा के, नर से नारायण के पर पर पहुँचने का, यह विशुद्ध विचार ही स्वर्ण सोपान है।

सामायिक में विचारना चाहिए कि—'मेरा वास्तविक हित एवं कल्याण, आत्मिक सुख शान्ति के पाने एवं अन्तरात्मा की विशुद्ध बनाने

नहीं हो। इन्द्रियों के भोगों से भरी मनस्सृष्टि कदापि नहीं हो सकती। सामाजिक के रूप पर अग्रसर होने वाले साधक को सुखको मात्राओं मिलने पर हर्षोल्लास नहीं होता चाहिए और दुःख को सामग्री मिलने पर व्याकुल नहीं होता चाहिए, घबड़ाना नहीं चाहिए। सामाजिक का तात्पर्य साधक सुख दुःख दोनों को समभाव से भोगता है, दोनों को पूरा तथा क्षण के समान वरदानपुर भावना है।

सामाजिक को साधना हृदय को विराह बनाने के सिद्ध भी है। अतएव जब तक साधक का हृदय विराह प्रेम से परिष्कारित नहीं हो जाता, जब तक साधना का सुन्दर रंग दिखर ही नहीं पड़ता। हमारे भावों काचनों ने सामाजिक के समभाव को परितुष्टि के सिद्ध पार भावनाओं का धारण किया है—मैत्री, प्रेम, करुण, नम्रता, ।

लगेतु मैत्री सुरितु प्रेम ।

मिलयेतु जेयेतु इमानजन ।

नम्रतामयं किरीति वृत्ति ।

महानाम विरहितु देव ।

—कवचं कलिदग्धि, सामाजिकरत

(१) मैत्री भावना—संसार के समस्त प्राणियों के प्रति निस्वार्थ प्रेमभाव रखना; अपने भाजा के समान ही सबको सुख दुःख को अनुभूति करनेवाले समभाव, मैत्री भावना है। जिस प्रकार मनुष्य अपने किसी विनिष्ट मित्र को हमेशा भर्त्स्य करता है, वही एक करने से हो सकता है स्वयं पर भर्त्स्य करता है, दूसरों से उनके सिद्धे भर्त्स्य करवाने की इच्छा रखता है, उसी प्रकार जिस साधक का हृदय मैत्री भावना से परितुष्ट हो जाता है वह भी प्राणियों को भर्त्स्य करने के सिद्ध बहुत उत्सुक रहता है, सबको करनेवाले की दृष्टि से देखता है। वह किसी को भी किसी भी तरह का कष्ट नहीं देना चाहता। उनकी आर्द्र भावना रही रहती है कि—“जिसका बहुत बुराई करने के लिये” करने भी सब प्राणियों को मित्र को करने से देखता है,



(१) बरता भावना:—किसी दीन दुखी को पीड़ा पाते हुए देख-  
कर दया में आकर हो जाता, उसे कुछ शान्ति पहुँचाने के लिए यथा-  
शक्ति प्रयत्न करता, अपने दिल से दिल स्पर्श का बलिदान देकर भी  
उसका दुःख दूर करना, बरता भावना है। अहिंसा की दृष्टि के लिए  
बरता भावना अतीव आवश्यक है। बिना बरता के अहिंसा का  
प्रमाण बनकर नहीं हो सकता। यदि कोई बिना बरता के अहिंसक  
होने का दावा करता है तो मनमंजरी यह अहिंसा का उपहास करता  
है। बरताहीन अनुग्रह, अनुग्रह नहीं, पशु होता है। दुखी को देखकर  
जिसका हृदय नहीं पिघला, जिसकी आँखों में आँसुओं की धारा नहीं  
बही, वह किस भोगों पर अपने को धर्माना मनमंजरी है ?

(४) मायात्मक भावना:—जो करने में असहमत हो, विरुद्ध हो,  
उस पर भी क्रोध न करना, उदासीन अर्थात् तटस्थ भाव रखना; मायात्मक  
भावना है। कभी-कभी ऐसा होता है कि माया के बिलकुल ही  
संस्कारहीन एवं धर्म-विना भ्रष्ट करने के सर्वथा उपयोग छुड़, क्रूर,  
निर्दय, विध्वंसकारी, निर्दोष, स्वनिष्ठता तथा एक स्वभाव भाव वाले  
अनुग्रह मिल जाते हैं, और पहले पहले माया के उन्माद और हृदय में  
उन्मत्त सुधारने का, धर्म पर पर लगे का प्रयत्न करना है, परन्तु जब  
उनके सुधारने के सभी प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं, तो अनुग्रह महमा  
उत्पन्न हो जाता है, कुछ हो जाता है, विपरीतपक्ष वाले को अनन्तर  
तक कहते लगता है। अन्ततः मायाहीन अनुग्रह की इसी दुर्लभा को  
ध्यान में रखकर मायात्मक भावना का उपदेश करते हैं कि संसार भा  
को सुधारने का केवल उपाय हमारे ही देता नहीं है। हमारे  
हस्ताक्षर करने वाले संस्कारों के पक्ष में है। जब तक अन्त-निष्ठ का  
परिष्कार नहीं होता है, अनुग्रह संसार ही होकर कुछ सम्भव अनुग्रह  
नहीं होता है, जब तक कोई सुधार नहीं सकता। अन्ततः ध्यान में धर्म  
प्रयत्न करना है। सुधारण और न सुधारण, पर तो हमारे विरुद्ध पर  
है। प्रयत्न बन्द करने, कभी तो धर्म का पक्ष प्रयत्न करना हो।



विरोधी और दुश्चरित्र व्यक्ति को देखकर घृणा भी नहीं करनी चाहिए। ऐसी स्थिति में माध्यस्थ्य भावना के द्वारा समभाव रखना, तटस्थ हो जाना ही श्रेयस्कर है। प्रभु महावीर को संगम घाटि देवों ने कितने भयंकर कष्ट दिए, कितनी समान्तक पीड़ा पहुँचाई; किन्तु भगवान की माध्यस्थ्य वृत्ति पूर्ण रूप से अचल रही। उनके हृदय में विरोधियों के प्रति जरा भी शोक एवं क्रोध नहीं हुआ। वर्तमान युग के संपर्दमय वातावरण में माध्यस्थ्य भावना की बड़ी भारी आवश्यकता है।

१२.१०० १०० सकारणिक का कार्य किसे प्रकाश है ?

अन्तर्मुख के सम्मुख व्यापारों का परिस्थान कर समझाव का  
 पुनरुद्धार एवं हरकत उभा है। समझाव को ही सामायिक कहने ह। सम-  
 झान का अर्थ है राज्य विवरण-सको चयननामे हटकर स्वभावमे=आत्म स्व-  
 रूप से विवर होना, जोन होना। अस्तु, आत्मा का सामायिक विकास मे  
 हलध के बाहुला करन रूप स्वरूप ही सामायिक है। और उस गुह्य आत्मा-  
 स्वरूप को या सेवा ही सामायिक का अर्थ=रूप है। यह निरवयव दृष्टि  
 का कथन है। इसके अनुसार जबतक साधक का स्वरूप में ध्यान मग्न  
 रहता है, उपरान्त उस से राग द्वेष मय को धोता है, पर परिणति को  
 हराकर आत्म-परिणति में समग्र करता है, तब तक ही सामायिक है।  
 और उषों ही संकल्प-विकारों के कारण चञ्चलता होती है, बाह्य क्रोध  
 मान माया क्रोध को और परिणति-होती है, उषों ही साधक सामायिक  
 से शून्य हो जाता है। आत्म स्वरूप की परिणति हुए बिना सामायिक,  
 प्रतिफलमय, प्रत्यक्षर आदि सब की सब बाह्य धर्म साधनाएँ मात्र  
 गुणवाचक रूप हैं, सेवा को साधक सवर नहीं।

[illegible]

निश्चय यदि के प्रति एक स्वर हो जिसे  
हम प्रकार गुण आत्म-परिवर्तित  
मन बना संयत्त है, वह अपनी उच्च-स्व  
कभी नहीं। अब रहे केवल वचन ही



साथ दिया तो महज भी कौन सी बड़ी चीज है, वह भी मिल सकता है ! परन्तु महज के अभाव में भीषण खोदकर सबक पर भिखारियों की तरह छोटना सी ठीक नहीं । अपने आप में व्यवहार सामाजिक भी एक बहुत बड़ी साधना है । जो लोग सामाजिक न करके अपने ही इधर-उधर निम्न बुगली, झूठ, हिंसा, लड़ाई आदि करते मिलते हैं, उन की अनेक निश्चय सामाजिक का न सही, व्यवहार सामाजिक का ही जीवन देखिये, कितना उँचा है, कितना महान है ! स्पष्ट वापसियों से तो जीवन बचा हुआ है ।



न करेमि, न करवेमि, करंतंमि=न करेगा, न करायेगा, करने वाले  
 अन्नं न समगुज्जायेमि=दूसरे का अनुमोदन भी नहीं करेगा  
 तत्त्वं भवे= हे भगवन् ! उस पाप व्यापार से इच्छा है  
 पडिक्कमामिनिन्दामि, गरिहमि=निन्दा करता हूँ गर्हा=भिहार करता हूँ।  
 अम्मायं बोसिरामि= पापमय आत्मा को बोसता हूँ।

## भावक और भाविका की सामायिक

भावक और भाविकाओं के सामायिक का पाठ भी यही है। केवल  
 'सन्नं सावज्ज' के स्थान में 'सावज्जं', 'आवज्जिवाए' के स्थान में  
 'आवनिपमं', 'तिविहं तिविहेणं' के स्थान में 'सुविहं तिविहेणं' बोका  
 जाता है। और 'करंतंमि अन्नं न समगुज्जायेमि' वह पद निरुद्ध हो  
 नहीं बोका जाता।

पाठक समझ गए होंगे कि साधू और भावकों के सामायिक वत में  
 किन्तु अन्तर है ? चाटुई एक ही है, किन्तु गृहस्थ परिग्रह भारी है,  
 अतः वह तीन करण तीन योम से पापों का सर्वथा परित्याग नहीं कर  
 सकता। वह सामायिक काल में मन वचन और शरीर से पाप कर्म न  
 स्वयं करेगा, न दूसरों से करवायेगा। परन्तु घर या दूकान आदि पर  
 होने वाले पापारंभ के प्रति गृहस्थ का ममत्कारूप अनुमोदन चाटु रहता  
 है, अतः अनुमोदन का त्याग नहीं किया जा सकता। साधू अपने  
 जीवन के पीछे कोई भी पाप व्यापार नहीं रखता, अतः वह अनुमोदन  
 का भी त्याग करता है। गृहस्थ पापारंभ से सदा के लिए सन्नत होकर  
 गृह जीवन को भौका नहीं छोड़ सकता। वह सामायिक से पहले भी  
 आरंभ करता रहता है और सामायिक के बाद भी उसे करना है; अतः  
 वह दो घड़ी के लिए ही सामायिक ग्रहण कर सकता है, यापजीवन  
 के लिए नहीं। आवश्यक नियुक्ति की अपनी टीका में आचार्य हरिभद्र  
 ने विशेष स्पष्टीकरण किया है, अतः विशेष विज्ञान से रहने का  
 कष्ट उदाहरे।

साधु की अनेक गृहस्थ की सामाधिक में काफी अन्तर है, फिर भी इतना नहीं है कि सर्वथा ही अलग भाग हो। जो पक्षी के जिए सामाधिक में यदि पूर्ण साधु नहीं तो, साधु जैसा अवस्था हो जाता है। उच्च जीवन के अन्तः के जिए, गृहस्थ, प्रतिदिन सामाधिक ग्रहण करता है और उतनी दूर के जिए वह संसार के धरातल से ऊपर उठ कर उच्च आध्यात्मिक भूमिका पर पहुँच जाता है। अतः आचार्य जिनमद् गयी दत्ता धर्म ने विशेषावश्यक भाष्य में ठीक ही कहा है:—

गन्तव्यं कथं सम्यगेहं ध्यातुं शक्यं दूरं गता,

एतत्तु शक्यं कथं सम्यगेहं ध्यातुं शक्यं दूरं गता, —१५६०

—सामाधिक करने पर भावक साधु जैसा हो जाता है, वास्तविकता में जीवन को बहुत कुछ अलग कर लेता है, अतएव भावक का कहना है कि वह प्रतिदिन सामाधिक ग्रहण करे, स्वयं भाव का आश्रय करे।

: १६ :

## छः आवश्यक

जैन धर्म की धार्मिक क्रियाओं में छः आवश्यक मुख्य माने गये हैं। आवश्यक का अर्थ है—प्रतिदिन आचरण करने योग्य धार्मिक क्रिया करने वाले धार्मिक अनुष्ठान। ये छः आवश्यक इस प्रकार हैं—  
१ सामायिक = समभाव, २ चतुर्विंशतिस्त्व = अगमन की स्तुति, ३ वन्दन = गुरुदेव को नमस्कार, ४ प्रतिक्रमण = वापस आना, ५ कायोत्सर्ग = शरीर का समस्त त्याग कर त्याग करना, ६ प्रत्याक्षान = पाप कर्मों का त्याग करना।

उक्त आवश्यकों का पूर्ण रूप से आचरण जो प्रतिक्रमण करते समय किया जाता है। किंतु सर्वप्रथम जो यह सामायिक आवश्यक है, इसमें भी आगे के पाँच आवश्यकों की अंतर्की मिल जाती है।

कहेमि सामार्य में सामायिक आवश्यक का, भते में चतुर्विंशति स्त्व का, तस्म भते में गुरुवन्दन का, पदिक्रमणि में प्रतिक्रमण का, अयाण बोधिरामि में कायोत्सर्ग का, सावज्ज ओगं पच्चक्षामे में प्रत्याक्षान आवश्यक का समावेश हो जाता है। अतएव सामायिक करने वाले महानुभाव, अथ गृह्य आत्म-निरीक्षण में उतरे तो ये सामायिक के द्वारा भी वही आवश्यकों का आचरण करते हुए अपना आत्मरक्षण कर सकते हैं।



## सामायिक कर बनाने चाहिए ?

आज का सामायिक के काज के सम्बन्ध में बड़ी ही अव्यवस्था है। कोई प्रातः काज करता है तो कोई सायंकाल। कोई दुपहर को करता है तो कोई रात को। मतलब यह है कि मनमाना कल्पना से जो अब चारता है सभी कर जेता है, समय की पाबंदी को कोई खयाल नहीं रहता जाता।

अपने आपको शान्तिकारी सुधारक कहनेवाले लगे करते हैं कि इससे क्या ? यह तो धर्म दिया है, अब जा चारा, सभी कर दिया। काज के बंधन में पड़ने से क्या लाभ ?" मुझे इस मुर्तक पर बड़ी ही दुःख होता है। भगवान महावीर ने स्थावस्वाव पर काज का विधानितला पर रख दिया है। इसी कनय जैसा धार्मिक विचारों के लिए भी असमय के काज प्राचरित्य तक का विधान किया है। मृगों के स्वाध्याय के लिए सभी समय का खयाल रखा जाता है ? धार्मिक विचार तो मनुष्य को और अधिक विधित्त करती हैं, जहां इसके लिए तो समय का पाबंद होना अतीव आवश्यक है।

समय की विधानितता को जब पर बड़ा कम-कमी होता है। उच्छ्रुत कर को कोही अव्यवस्थित होइ हमले पर और भी अधिक चपल हो जाता है। लोगों को खींचाई समय पर हो जाता है। उच्छ्रुत क लिए मिला करियों के समय विधानित होता है। विभिन्न धार्मिक दायर जोइए सब कोई का समय का ठीक विधानित रखा है। धार्मिक कला,

साधारण व्यक्तियों तक की नियमितता का भी मन पर बड़ा प्रभाव होता है। तमाखू आदि दुर्व्यसन करने वाले मनुष्य, नियत समय पर ही दुर्व्यसनों का संकल्प करते हैं। अफीम खाने वाले व्यक्ति को ठीक नियत समय पर अफीम की याद आ जाती है, और यदि उस समय न मिले तो वह विवश हो जाता है। इसी प्रकार सदाचार के कर्तव्य भी अपने क्षिप्त समय के नियम को अपनेरा रखते हैं। साधक के क्षिप्त समय का इतना अभ्यस्त हो जाना चाहिये कि वह नियत समय पर सब कार्य छोड़ कर सर्व प्रथम साधरपक धर्म किया करे। वह भी स्वाध्यामिक जीवन है कि आज प्रातःकाल तो कुछ दुपहर को, परन्तु दिन सायंकाल तो उससे अगले-दिन किसी और ही समय। सायंकाल वह अनियमितता बहुत ही बढ़ रही है। इससे न धर्म के समय धर्म ही होता है और न कर्म के समय कर्म ही।

प्रश्न किया जा सकता है कि फिर कौन से कारक का निरचय करना चाहिये? उत्तर में कहना है कि सामायिक के क्षिप्त प्रातः और सायंकाल का समय बहुत ही सुन्दर है। प्रकृति के औखाचेन संसार में वस्तुतः इधर सूर्योदय का और उधर सूर्यास्त का समय, बड़ा ही सुरम्य एवं मनोहर होता है। सीमन्त है नगर की गलियों में रहने वाले धान खोग दुर्भाग्य से प्रकृति के इस विखण्डन हरय के दर्शन से वंचित हो, परन्तु यदि कभी आपको बरिधों के सुरम्य तटों पर, पहाड़ों की ऊँची चोटियों पर, या कीड़ब बनों में रहने का प्रसंग हुआ हो और वहाँ दोनों सम्प्राप्ति के सुन्दर हरय आँसों की वज्र पड़े हो तो मैं निरचय से कहता हूँ कि आप उस समय आनन्द विमोह हुए बिना न रहे होंगे। ऐसे प्रसंगों पर किसी भी दर्शक का आनन्द घन्य-करण उदात्त और गंभीर विचारों से परिपूर्ण हुये बिना नहीं रह सकता। खेसक को शिमड़ा यात्रा के वे सुन्दर एवं सुमनोहर प्रभाव और सायंकाल के हरय अब भी भूले नहीं हैं। जब कभी स्मृति आती है, इदय आनन्द से गुरगुशाने लगता है।

हो प्रभात का समय तो ध्यान चिन्तन आदि के लिए बहुत ही सुन्दर माना गया है। सुन्दरा प्रभात एकान्त, शान्ति और प्रसन्नता आदि की दृष्टि से परमशुभ प्रकृति का ध्येय रूप है। इस समय हिता और श्रुता नहीं होती, दूसरे मनुष्यों के साथ सम्पर्क न होने के कारण अस्वस्थ एवं कटु भाषण का भी अवसर नहीं आता, और चोरी से निहत्त हो जाते हैं, किसी दुष्ट काम वासना से निहत्त या जेते हैं। अस्तु, हिंसा, अस्व, स्नेह और प्रसन्नता आदि के कुरूप एवं दुरयोग के न रहने से ध्यान योग का वायु अदृष्ट अदृष्ट विचारों से स्वयं ही प्रसूत रहता है। इस प्रकार सामायिक की पवित्र क्रिया के लिए यह समय बड़ा ही सुभीता है। यदि प्रभातकाल में न हो सके तो सायंकाल का समय भी दूसरे समयों का अपेक्षा शान्त माना गया है।

### पूर्व और उत्तर ही क्यों ?

सामाजिक करने वाले को अपना मुख पूर्व पक्ष पर ऊपर दिया की ओर रखना भेद माना गया है। जिसमें मन्त्री तथा भयंकर, विशेषतः स्वयं का मुख से निकलने दे कि पश्चात्तिमुक्त उत्तरमुखों व उत्तरमुखों में भेद माना गया है। सामाजिक, धर्मिक, और हीना रामादि धर्मिकियाँ पूर्व की ओर ऊपर दिया की ओर ही करने का विधान है। स्वामीग मुख से भगवान महावीर के भी हमी हो दिशाओं का महत्व बर्णन किया है। अतः यदि मुख्य दिशा में ही तो उनके सम्मुख देखा हुए पश्चात्ति दिशा में भी मुख दिया जा सकता है, अन्य पक्ष में ही तो पूर्व की ओर ऊपर की गई मुख रखना ही नियत है।

यह कभी पूर्व और उत्तर दिशा का विचार नहीं करना है या दक्षिण दिशा में कि पूर्व और उत्तर दिशा में ही ऐसा क्या सम्भव है, जो कि अन्य दिशाओं को छोड़ कर हमारी ओर ही मुखा किया जाय ? उत्तर में कहना है कि सामान्यतया ही सबसे बड़ा प्रमाण है । सभी कि आचार्यों ने हमें कि वैज्ञानिक सम्प्रदाय को ही विस्तृत प्रमाण नहीं दिया है । कि सभी-सभी वैज्ञानिक विद्वान् मान्यताओं की न हम सम्मान में रख दिया है और यह कभी विचारणीय है ।

[illegible]



### पूर्व और उत्तर ही क्यों ?

साक्षात्कार करने वाले को अपना मुख पूर्व दिशा उल्टा दिया और  
घोरे रखना भक्त माना गया है। त्रिमूर्ति सभी जगत् भक्त, विशेषतः  
वैष्णव सम्प्रदाय में प्रचलित है कि भक्तोंमेंसे उनमेंसे उच्चतम  
गुरुदेव की सेवा करने वाले भक्तों में प्रथम, और दूसरे  
आदि भक्तोंमेंसे पूर्व और उत्तर दिशा की ओर हों करने का विधान  
है। भक्तोंमें मुख में भगवान् महात्मा के भी इन्हीं दो दिशाओं में  
मूर्ति रखी जाये। जहाँ यदि गुरुदेव विद्यमान हों तो उनके  
समक्ष बैठने का सम्प्रदाय दिया जाये भी मुख किया जा सकता है।  
यह सम्प्रदाय भक्तों पर तो पूर्व और उत्तर की ओर मुख रखना ही  
होना है।

इस चीनी पुनर्-संशोधन विभाग का विचार यह रहता है तो हमें क्या माना है कि पुनर्-संशोधन विभाग में ही क्या क्या महत्व है, तो कि अन्य विभागों की तुलना में इसकी मात्रा ही मुक्त किया जावे ? इसमें यह कहना है कि माध्यमिकता ही सबसे बड़ा उपाय है । चीनी एक भाषाओं में इस के वैज्ञानिक महत्त्व का कोई विस्तृत प्रकाश नहीं होता है । हा चीनी चीनी वैज्ञानिक विभाग मानविकता ही न इस सम्बन्ध में कुछ विचार है और यह कभी-कभी प्रकाशित है ।

[illegible]



यह जीता-जागता चलाता-चिह्ना ईश्वर है। उसकी पञ्चौकिक शक्तियाँ सोई पड़ी हैं, जिस दिन वे जागृत होंगी, संसार में मंगल ही मंगल मन्दर आयेगा। पूर्व दिशा हमें संकेत करती है कि मनुष्य अपने पुरुषार्थ के बल पर अपनी इच्छा के अनुसार अमृत्यु प्राप्त कर सकता है। वह सदा पवित्र और हीन कृपा में रहने के लिए नहीं है, प्रसन्न पवन से उत्थान की ओर समसर होना, उसका जन्मसिद्ध अधिकार है।

उत्तर दिशा=उत्पन्न अर्थात् उत्पत्ति से उत्तर=अधिक जो भाव होता है, वह उत्तर दिशा से प्रेरित होता है। हाँ जो उत्तर का भाव हुआ—ऊँची गति, ऊँचा जीवन, ऊँचा आदर्श पाने का संकेत। मनुष्य व हृदय भी ऊँची गल्ल की ओर है, वह उत्तर है। मानव शरीर में हृदय का स्थान बहुत ऊँचा माना गया है। वह एक प्रकार से आत्मा व केन्द्र ही है। जिसका हृदय जैसा ऊँच-नीच अपना सुख-समृद्ध होता है वह वैसा ही बन जाता है। मनुष्य के पास जो भक्ति, भय, विस्वास और पवित्र भावना का भाग है, वह औकिक दृष्टि से उत्तर दिशा में हृदय में ही है। अस्तु उत्तर दिशा हमें संकेत करती है कि हम हृदय की विद्या, उदार, उत्पन्न एवं पवित्र बनाएँ।

उत्तर दिशा का दूसरा नाम भ्रूय दिशा भी है। प्रसिद्ध भ्रूयनका जो अपने केन्द्र पर ही रहता है, हृदय-उत्तर नहीं होता, उत्तर दिशा है। अतः पूर्व दिशा जहाँ प्रगति की, हस्तचक्र की सम्प्रेष-वाहिका है वहाँ उत्तर दिशा स्थिरता, दृढ़ता, निश्चयात्मकता एवं अचल आद की संकेत की कारिका है। जीवन-संग्राम में गति के साथ स्थिरता, हस्तचक्र के साथ शान्ति और स्वस्थता अत्यन्त अचेष्टित है। केवल गति ही केवल स्थिरता जीवन को पूर्ण नहीं बनाती, किन्तु दोनों का मेल। जीवन को ऊँचा उठाता है। प्रगति और दृढ़ताके बिना कोई भी मनुष्य किसी भी प्रकार की उन्नति नहीं प्राप्त कर सकता।

उत्तर दिशा की पञ्चौकिक शक्ति के सम्बन्ध में एक प्रत्यक्ष प्रमाण भी है। भ्रूय-कण्ट वाली कुतुबनुमा में जो छोड़ पुष्पक की छुरी हो



है, यह हमेशा उत्तर की ओर ही रहती है। जोह धुम्क की भुईं यह पदार्थ है, अतः उसे स्वयं तो उत्तर दक्षिण का कोई परिवर्तन नहीं, जो उत्तर धूम जाय। अतएव मानना होगा है कि उत्तर दिशा में ही ऐसा किता विशेष स्थिति का आकषण है, जो सर्वत्र जोह-धुम्क को आरती और आकृष्ट करने रहती है। हमारे दृष्टांतों के मनमें आई यह तो नहीं था कि यह स्थिति मनुष्य पर भी अपना कुछ प्रभाव डालती है।

भौतिक दृष्टि में आ दक्षिण दिशा की ओर स्थिति की आरता, तथा उत्तर दिशा की ओर स्थिति की अभिरुचि प्रमाण होती है। दक्षिण देश के लोग कमजोर और उत्तर दिशा के बलवान होते हैं। कारण यह आदि के लोग मजबूत, और चर्च तथा मजबूत शक्त के लोग विवेक दूर धुम्कपूर्ण होते हैं। हम पर से अनुमान किता जा सकता है कि आरत ही मनुष्यों के आत्म धर्म, आत्म-बल, यह सब धर्म सबलता-वैयक्तता आदि पर दक्षिण और उत्तर दिशा का कोई विशेष प्रभाव रहता है। आत्म की दृष्टि विचारों के आध्यात्म दक्षिण और दक्षिण को ही करके लोग चलते रहते हैं।

जब आरत ही आई, भौतिक लक्ष्य में आ दूर और उत्तर दिशा का ही प्रमाण किता गया है। दक्षिण कमजोर दिशा माना है और दक्षिण बल का। वे दोनों दूर और दक्षिण के सब सब हैं। दक्षिण आरत में दूर दिशाओं की ओर उत्तर मनुष्यों की दिशा कमजोर का गई है—जब ही दक्षिण और उत्तर दिशा में ही दिशा कमजोर—दक्षिण, दिशा बल का। एक बहुत, दिशाओं का हम मनुष्यों के आत्म की भौतिक आध्यात्म बल को आरत करता है। जैसा ही दूर कमजोर दिशा-धर्म के दिशा ही वे सब बल का किता होता है।

: २३ :

## प्राकृत भाषा में ही क्यों ?

सामाजिक के पाठ भारत की बहुत प्राचीन भाषा पढ़ें मामूली हैं। इनके सम्बन्ध में सामक्यतः यह किया जा रहा है कि हमें तो भाषा से मतलब है, पदों के पीछे बैठे रहने से क्या काम ? मामूली पदों को भाषा की तरह पढ़ने रहने से हमें कुछ भी लाभ पक्के न पड़े। अतः अपनी अपनी गुजराती, मराठी, हिन्दी आदि की भाषाओं में पदों की पढ़ना ही लाभदायक है।

यह बहुत सुन्दर है, किन्तु अधिक लाभदायक विचारणा के काम नहीं कर पाया है। महापुरुषों की भाषा में और जग-जागरण। भाषा में क्या फायदा होता है। महापुरुषों की भाषा के पीछे इन पौनःपुन्य जीवन के गहरी अनुभव रहते हैं, जब कि जग-जागरण की भाषा जीवन के बहुत ऊपर के स्तरों पर से ही सम्बन्ध रखती है। यही कारण है कि महापुरुषों के पीछे-छात्रों सामान्य समझ भी रहता। समझ कर बातें हैं, जीवन की भाषा बहुत होती है, सर्वज्ञ से सर्वज्ञ सभी को भी समझना और समझाती क्या होती है, जब कि सामान्य मनुष्यों की समझ-समझी समझ-समझ भाषा भी कुछ समझ नहीं कर पाती। क्या कारण है, जो महान् व्यक्तियों की भाषा हमारा भाषा के पढ़ने पुनः से सामान्य बनाना जीवन पढ़ी जा रही है, जो सामान्य के लोगों की भाषा उनके समझ ही रहती जाती है ? हाँ व हमने समझ नहीं कि महापुरुषों के व्यक्तियों में कुछ निश्चय्य सामान्य,

पवित्रता एवं प्रभाव रहता है; जितके कारण हजारों वर्षों तक लोग उसे बड़ी भ्रष्टा और भक्ति से मानते रहते हैं, प्रत्येक अक्षर को यदे चादर और प्रेम की दृष्टि से देखते हैं। अस्तु महापुरुषों के अन्दर जो दिव्य दृष्टि होती है, वह साधारण लोगों में नहीं होती। और यह दिव्य दृष्टि ही प्राचीन पाठों में गम्भीर अर्थ और विशाल पवित्रता को लोगों को दिखाती है।

महापुरुषों के पास बहुत नये-नूतने होते हैं। वे ऊपर से देखने में अत्यन्त मालूम होते हैं, परन्तु उनके भावों की गम्भीरता अपरम्पार होती है। प्राकृत और संस्कृत भाषाओं में सूक्ष्म से सूक्ष्म आन्तरिक भावों को प्रकट करने की जो शक्ति है, वह प्रान्तीय भाषाओं में नहीं पा सकती। प्राकृत में एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, और ये सब के सब यथा-समय ददे हो सुन्दर भावों का प्रकाश फैलाते हैं। हिन्दी आदि भाषाओं में यह शक्ति नहीं है। साधारण आशयियों की बात नहीं कहता, ये-वदे विद्वानों का कहना है कि प्राचीन मूल ग्रन्थों का पूर्ण अनुवाद होना असम्भव है। मूल के भावों को भाव की भाषा में व्यक्त करके ही हो नहीं सकता। जब हम मूल का अनुवाद में उतारना चाहते हैं तो हमें ऐसा लगता है, मानों ठोठें नारते हुए महामाया को हृदय में बन्द कर रहे हैं, जो सरंथा अतन्मय है। अन्द्र, सूर्य, और हिमालय के चित्र त्रिद्वार हैं; परन्तु वे चित्र मूल वस्तु का साक्षात् प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। चित्र का सूर्य कभी प्रकाश नहीं दे सकता। इसी प्रकार अनुवाद केवल मूल का धारा चित्र है। उस पर से धार मूल के भावों की अस्पष्ट आँकी अवश्य ले सकते हैं, परन्तु मूल के पूर्ण दर्शन नहीं कर सकते। इति अनुवाद ने धार मूल भाव कभी-कभी अस्पष्ट से निश्चित भी हो जाते हैं। अतः अनुवाद है, वह अनुवाद में अनेको मूल की पुष्ट नहीं कर रही दे हो देता है। अतः धार के पुरष विद्वान् लोकधो पर विरक्त नहीं होते, वे मूल का अवलोकन करने के बाद ही अपना विचार स्थिर करते हैं। अतएव

प्राकृत पादों की जो बहुत पुरानी परंपरा चली आ रही है, वह पूर्ण उचित है। उसे बढ़ा कर हम कल्याण की ओर नहीं आयेगे, बलुपल्लव से भटक आयेगे।

ध्वजहार की दृष्टि से भी प्राकृत पाद ही नीचिष्णुपूर्ण है। हमारी चर्मकियाई मानवसमाज की एकता की प्रतीक है। साधक किसी भी जाति के हों, किसी भी प्रांत के हों, किसी भी राष्ट्र के हों, जब है एक ही स्थान में, एक ही वेष्टभूषा में, एक ही चरित्र में, एक ही भाषा में धार्मिक पाद पहने हैं तो ऐसा मान्य होता है, जैसे सब भाई भाई हों, एक ही परिवार के सदस्य हों। क्या कमो चापने सुसंयोज्य भाइयों को हृद की समाज पहने देखा है? हजारों मस्तक एक साथ भूमि पर मुकुट और उठते हुए कितने सुन्दर मान्य होते हैं? किसी भी भीतर नियमितता रूप को मोह लेती है। एक ही धारणी भाषा का उपयोग किस प्रकार उन्हें एक ही संस्कृति के मूल में बांधे हुए है? केवल के पास एक साथ देखती हैं, बाद मान्यराज भी सुराणा एक भाषा की आधारों को साथ, जो अपने आपसे बोल करवा था। जैसे एवांगेल धार्मिक पाद के रूप में क्या पाद बना करते हैं तो उसने सही पादोभाषा के कुछ पाद अपनी आस्था की ध्वनि में उच्चारण किए। मैं जानन्द विचार हों गया—बड़ा पादों के मूल पादों ने किस प्रकार मान्य, नीच, ज्ञान का दिग्दर्श देखा तो भी एक मान्य के रूप में बांध लम्बा है। अस्तु, सामाजिक के मूल पादों की भी मैं नहीं दूना दखना चाहता हूँ। गुजराती, बंगाली, हिन्दी और बांग्लादेशी धारि की अलग-अलग विधियाँ मुझ पर हैं कल्प नहीं। वह विभिन्न भाषाओं का भाव हमारी प्राचीन सांस्कृतिक एकता के लिए फुलारावण सिद्ध होगा।

जब ही साथ समझने की बात। इसके सम्बन्ध में वह आचार्य है कि टीका-टिप्पणियों के आधार से कोई बहुत मूल भाषा के ऐतिहासिक रूप का क ज्यों का समझने का उचित विधा ज्ञान। जिस



: २४ :

## दो घड़ी हो क्यों-

सामायिक का कितना काज है ? यह प्रश्न धातुकर्म कारी व का विषय बना हुआ है । धातु का मनुष्य सांसारिक संसारों के ही अपने आपको इतना रेंसाये जा रहा है कि वह अपनी प्राचीन धातुकर्मपायकारिणी धार्मिक क्रियाओं को करने के लिए भी अवकाश न निकालना चाहता । यदि चाहता भी है तो इतना चाहता है कि जब से जल्दी कारकर्म के छुटकारा मिले और घर के काम धंधे में लगे । इ मनोवृत्ति के प्रतिनिधि कितने ही सज्जन कहते हैं कि—सामायिक स्वीक करने का पाठ 'करेमि भने' है । उसमें केवल 'जाय नियम' पाठ है जब तक नियम है तब तक सामायिक है । यही काज के सम्बन्ध कोई निश्चित धारणा नहीं बताई गई है । अतः साधक की इच्छा है कि वह जितनी देर होक समयके, उसनी देर सामायिक करे । दो घ का ही बन्धन क्यों ?

इस चर्चा के उत्तर में जितेन्द्र है कि, ही ध्यानात्म साहित्य में सामायिक के लिए निश्चित काज का उल्लेख नहीं है । सामायिक के पाठ भी काज मर्यादा के लिए 'जाय नियम' ही पाठ है, 'मुमुक्षु' आदि नहीं परन्तु मरं साधारण जनता को नियम बद्ध करने के लिए प्राचीन धातु ने दो घड़ी की मर्यादा बांध दी है । यदि मर्यादा न बांधी जाती तब बहुत सम्भवस्या होती । कोई दो घड़ी सामायिक करता तो कोई प्य भर ही । कोई साधक घड़ी में ही लुप्त करके बिगड़ जाता । कोई-को

इस पांच निन्दों में हो बेड़ा पार कर लेता । यदि प्राचीन काज से सामायिक को काज नयाँदा निरिच्छ न होती तो आज के भ्रष्टाचार युग में न नातून सामायिक को क्या दुर्नति होती ? किस प्रकार उसे नयाक की धोज बना लिया जाता ?

ननोविज्ञान की दृष्टि से भी काज नयाँदा आवश्यक है । धार्मिक स्था, किन्ती भी प्रकार की दृष्टी, यदि निरिच्छ समय के साथ बढ़ न हो तो ननुष्य में रूढ़िस्थि आ जाता है, कर्तव्य के प्रति उपेक्षा का भाव होने लगता है, अतः धीरे-धीरे अल्प से अल्प काज की धोर सरकता हुआ ननुष्य अन्त में केवल अनाव पर आ खड़ा होता है । अतः आचार्यों ने सामायिक का काज दो धरो लोक ही निरिच्छ किया है । आचार्य हेनचन्द्र भी अपने योग शास्त्र पंचन प्रकरण में सामायिक के लिए सुहृत् नर काज का स्पष्ट उल्लेख करते हैं—

त्यक्तार्थ—पंडितान्तर, त्यक्तदण्डनरः;

सुहृत् सन्ता ना ताः त्रिदुः सान्निह-मनन् ?

मूल आगम साहित्य में प्रत्येक धार्मिक क्रिया के लिये काज नयाँदा का विधान है । मुनिधर्मों के लिए सावज्योवन, पौषध्वज के लिए दिनराज, धौर मय आदि के लिये अनुपमन्य आदि का उल्लेख है । सामायिक भी प्रत्यास्थान है, अतः प्रत्येक होता है कि पारों का प्रतिष्ठापन क्रियाओं के लिए किया है ? धीरे से धीरे और धरे से धरा प्रत्येक प्रत्यास्थान काजनयाँदा से बंधा हुआ होता है । शास्त्रीय दृष्टि से आवक का पंचन मुख स्था है, अतः वहाँ अन्त्यास्थान क्रिया नहीं हो सकती । अन्त्यास्थान क्रिया धनुषं मुखस्थान तक हो है । अतः सामायिक में भी प्रत्यास्थान की दृष्टि से काजनयाँदा का निरिच्छ रत्नना आवश्यक है ।

इस प्रत्यास्थानों में नयकरसों का प्रत्यास्थान किया जाता है । आगम में नयकरसों के काज का लौखी आदि के समान क्रियाओं की प्रकार का उल्लेख नहीं है । केवल इतना स्था गया है 'जब तक प्रत्या-





## वैदिक सन्ध्या और सामायिक

१. वेद धर्म में प्रतिदिन बुढ़-ब-बुढ़ पूजा पाठ, उप तप, मनु धाम-  
दाम आदि धार्मिक विचारों को आती है। मानव-आयुष्य सम्बन्धी  
प्रतिदिन की सामयिक भूत का शान्ति के लिए, हर एक पन्थ का  
मन वे कोरे व कोरे योग्यता, मनुष्य के मानने अनवरत रखी है।

वेद धर्म के द्वारा प्रणीत वैदिक धर्म में भी सन्ध्या के नाम से  
एक धार्मिक अनुष्ठान का विधान है, जो प्रातः और सायंकाल दोनों  
मनव किया जाता है। वैदिक धर्मधारियों ने सन्ध्या का अर्थ किया  
है—“न-उपम प्रकाश से प्र-प्रकाश करवा”। अर्थात् “अपने हृदय  
का प्रकाश और कर्मा के साथ प्रकाश करवा, चिन्तित करवा।”  
सन्ध्या शब्द का अर्थ है—“नव, सवेरा, सन्ध्या”। एक वृत्ति  
हर्ष का प्रकाश है “उपानयन के समय प्रवेश के साथ उपानयन का  
संकेत दाता के है।” एक अर्थ है, यह यह कि प्रातः काल  
और सायंकाल दोनों सन्ध्याकाल है। प्रातः और दिव को सवेरा प्रातः  
काल है, एवं दिव और रात्रि को सन्धि सायंकाल है। अतः सन्ध्या में  
किया जाय प्रकाश करने का सन्ध्या शब्द से प्रकट होता है।

वैदिक धर्म का एक मन्त्र दो शब्दों से मिलता है—अथर्व  
धर्म और अथर्वधर्म। अथर्वधर्म शब्द का अर्थ है, अथर्व  
यह कि अथर्वधर्म अथर्वधर्म का अनुष्ठान है। वेदों का अन्तर  
दोनों को ही अथर्वधर्म के अन्तर्गत है, अतः दोनों ही वैदिक धर्म का

शास्त्रार्थ है। सर्व प्रथम सनातन धर्म की सम्म्या का वर्णन किया जाता है।

सनातनधर्म की सम्म्या केवल प्रार्थनाओं एवं स्तुतियों से मरी हुई है। विष्णुमंत्र के द्वारा शरीर पर जल छिड़क कर शरीर को पवित्र किया जाता है, सृष्टीमाता की स्तुति के मंत्र से जल छिड़क कर शरीर को पवित्र किया जाता है। इसके परिणाम स्वरूप के उत्पत्ति-कर्म पर विश्वास होता है। फिर मायावाम का चक्र चलता है। अग्नि, वायु, आकाश, पृथ्वी, अप्स, इन्द्र और विरल देवताओं की बड़ी महिमा गाई जाती है। सम्प्रदायिक इन्हीं देवों के सिद्ध होती है। जल का महत्व स्थापित है। वैदिक जल बड़ी ही भावुकता के साथ जल की स्तुति करता है:—

ॐ अनादयति मूनेषु गुहायां निरपतो मुक्तः ।

त्वं यदस्त्वं यदस्त्वं सारो ज्योतीन्सोऽमृतम् ॥

—हे जल ! तू सब जीवमात्र के मध्य में से विचरते हो। तू महाप्रदक्षी गुहा में सब ओर घातकी गति है। तूम्हीं सब जीव यदस्त्वं हो, यद् हो, ज्योति हो, रत्न हो, और अमृत भी तूम्हीं हो।

सर्व ही जीव बार जल का आर्पण दिया जाता है, जिसका अर्थ है कि प्रथम आर्पण से राजसों की सफारी का, गुमरी से राजसों के उत्पत्ति का, और तीसरे से राजसों का नाश होता है। इस के बाद तृतीय मंत्र पढ़ा जाता है, जिसमें सविता=सर्व देवता से अपनी पुष्टि के प्रवर्द्धन के सिद्ध प्रार्थना है। अधिक क्या इसी प्रकार स्तुतियों, प्रार्थनाओं एवं जल छिड़कने आदि की एक लंबी परंपरा है, जो सनातन धर्म के बाह्य क्षेत्र से ही सम्बन्ध रखती है। यही सम्बन्ध सनातन धर्मवादी को सुने का और पारमार्थ से ज्ञान को पवित्र करने का कोई उपाय नहीं देता जाता।

हो एक मंत्र देता है, जिसमें इस ओर कुछ बोधा बहुत कम दिया गया है। यह वह है—“ओम् सर्वं यत् सत् सर्वं यत् सत् सर्वं यत् सत्”

मनुकृत्येभ्यः साधेभ्यो रचन्तान् । यद् यद्वा यद् गम्यानामन्यथायं मनसा  
वाचा हस्तान्वा यदन्त्यामुदरेण सिद्धाना गात्रतद्वत्तुम्बु, यत् किम्बद्  
दुर्गतिं माते इदमन्मारेणमुत्पद्येते मृत्युं ज्योतिषं तुरीयं स्वारा ।”

—‘सूर्य मारायण, यद्यपि और-देवताओं से भेरी मारना है कि  
यद्यपि यक तथा योभ से किये हुए पापों से भेरा रखा करें । दिन या  
रात्रि में मन, वाणी, हाथ, पैर, उदर और सिस्न से जो पाप हुए हों,  
उस पापों को मैं अस्तुत्योनी सूर्य में होम करता हूँ । इसलिये वह उस  
पापों को नष्ट करे ।’

मारन करना दुरा नहीं है । अपने हुए देव के घरों में अपने  
पाप को समर्पण करना और अपने अपराधों के प्रति क्षमायाचना करना,  
मानव हृदय की बहुत अच्छी भावुकता से भरा हुई कल्पना है ।  
प्राग्भू भव पुत्र देवताओं पर ही धीरे धीरे, अपने अपराधों को  
उपहरायाव न रक्षता, अपने जीवन के अनुभव एवं निवेदन के  
लिए हुए पुत्र न करके दिन रात देवताओं के आगे कतमस्तक होकर  
निवेदन करते ही रहता, उपासक का मार्ग नहीं है । इस प्रकार मानव-  
हृदय दुर्बल, साहस एवं कर्तव्य के क्षेत्र पराङ्मुख हो जाता  
है । अपनी ओर से जो हाथ, पाप अपना दुराचल छोड़ हुए हों,  
उस के लिए केवल क्षमा मांगना कर लेना और दूर से दबे रहने के  
लिए निवेदन करना, मानव जाति के लिए बड़ा ही घातक विचारावस्था  
है । व्यापकता का तब तो यह है कि सर्वप्रथम अनुभव कोई अपराध हो न  
को । और बाद की पुत्र अपराध हो जाय तो उसके प्रतिपक्ष को  
जीतने के लिए लड़ने लगते रहें । यह क्या बात कि मानव का पाप  
करना और दूर रहने के लक्ष्य देवताओं से दूरी को मांगना करना,  
दूर से दबे रहने का पाप माना । यह जोरदार है, जोरदार नहीं । और  
जोरदार को भी धीरे धीरे हो सकता है । दूरी मांगने के लक्ष्य-कारण यदि  
अपने पाप को पुत्र प्रत्यक्ष करे, मानव को धारणा, कर्म छोड़ को बहुत  
आवश्यकता से करे, दूर से के लक्ष्य-कारण करे तो अधिक



दिलजाने के साथ ही नहीं रह-सकते। क्या ही अच्छा होता, यदि इस मंत्र में अपराधों के अपराध को क्षमा करने की, वैर विरोध के स्थान में प्रार्थना के प्रति प्रेम और स्नेह की प्रार्थना की होती !

उपसुक्त मंत्र का ही एक मंत्र पञ्चवेद का है, जो सभा में तो नहीं पढ़ा जाता, परन्तु अन्य प्रार्थनाओं के क्षेत्र में वह भी विशेष स्थान पाये हुए है। यह मंत्र भी किसी विद्वन्मय, अग्रन्त एवं कृतपितृ हृदय की वाणी है। पढ़ते ही ऐसा लगता है, नाचों 'वन्द्य' के हृदय में वैरविरोध का ज्वाला लुखो फट रहा है।

यो अलम्बनयती पाप्मन् नो द्विजे जनः ।

निन्दाद् यो अलम्बन् पिशान्व सर्वं तं भल्लय कुर्व ॥

—पञ्च० ११।६

—'जो हनते शयुक्ता करते हैं, जो हनते द्वेष रखते हैं, जो हमारा निन्दा करते हैं, जो हमें धोखा देते हैं; हे भगवन् ! हे ईश्वर ! तू उन सब दुष्टों को भल्ल कर डाल ।'

यह सच उद्गरज लिखने का मेरा अभिप्राय किसी विरोध भावना को विष्ट हुए नहीं है। प्रसङ्ग बरा सामाजिक के साथ जुड़ना करने के विष्ट हो इस और लक्ष्य देना पड़ा और सौमन्य से जो कुत्र देखा गया, वह मन को प्रभावित करने के स्थान में प्रभावित ही कर सका। मैं धार्मिक विद्वानों से विषय विवेदन कहेगा कि यह इस और ध्यान दें तथा उपसुक्त मंत्रों के स्थान में उदार एवं प्रेमभाव से भरे मंत्रों को पोजवा करें।

पाठक वैदिक धर्म की दोनों ही शाखाओं की सभा का वर्णन पढ़ चुके हैं। स्वयं मूत्र ग्रन्थों को देखकर अपने ध्यान को और अधिक विरस्त कर सकते हैं। और इधर सामाजिक धर्म के मनव है ही। प्रत्येक धर्म जुड़ना कर सकते हैं, किन्तु क्या विरोध है ?

सामाजिक के पाठों में प्रारम्भ से ही हृदय की झेनड एवं सवित्र भावनाओं को उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया है। धोरे से धोरे

चना सूत्र में परचाचार पूर्वक सम्प्राप्त दुःख दया जाता है। अद्वैत  
 धर्मिता और दया के महान् प्रतिनिधि तीर्थंकर देवों की स्तुति की गई  
 है, और उसमें साम्प्रदायिक शान्ति, सम्प्रज्ञान और सम्पूर्ण समाधि के  
 विषय महत्त्व कायना की है। परचाचरेमि भक्ति के पाठ में मग से नम  
 से और शरीर से पाप कर्म करने का उपाय किया जाता है। चारों की  
 प्रतिदिन जीवन में उठाने के विषय साम्प्रदायिक एक महती साम्प्रदायिक  
 प्रयोगशाला है। साम्प्रदायिक में चारों और शैव-ध्यान से चारों शोक और  
 द्वेष के संकटों से अपने आपको सर्वथा मुक्त रखा जाता है एवं इस  
 के अणु अणु में मैत्री, करुणा, चादि उदात्त भावनों के साम्प्रदायिक  
 अमृत रस का संचार किया जाता है। आप देखेंगे, साम्प्रदायिक की स्थापना  
 करनेवाले के चारों ओर विरहमेम का सागर किस प्रकार उठे सागर है  
 वहाँ द्वेष दया चादि दुर्भावनाओं का एक भी देना सम्भव नहीं है, वे  
 जीवन को अरामी काश्मिरा का दान क्या सके। पंचपात्रादि इस  
 से विचार करने पर ही साम्प्रदायिक की महत्ता का ध्यान हो सके।

## प्रतिज्ञा पाठ कितनी बार ?

सान्नायिक ग्रहण करने का प्रतिज्ञा पाठ 'करोनि भते' है। यह बहुतही पवित्र और उच्च आदरों से भरा हुआ है। सम्पूर्ण जैन साहित्य इसी पाठ की धामा में फल फूल कर विस्तृत हुआ है। प्रस्तुत पाठ के उच्चारण करते ही साधक, एक नवीन जीवन क्षेत्र में पहुँच जाता है, जहाँ राग द्वेष नहीं, घृणा नफरत नहीं, हिंसा अस्वल्प नहीं, चोरी व्यभिचार नहीं, लड़ाई झगडा नहीं, स्वार्थ नहीं, दम्भ नहीं; प्रत्युत सब ओर दया, क्षमा, नम्रता, समता, तप, ज्ञान, भगवद्भक्ति, प्रेम, सरलता, शिष्टता आदि सद्गुणों की सुगन्ध ही नहकती रहती है। सांसारिक वासनाओं का झन्धकार एक बार तो विज्र निज हो जाता है, जीवन का प्रत्येक पहलू ज्ञानालोक से जगमगा उठता है !

हाँ तो सान्नायिक करते समय यह पाठ कितनी बार पढ़ना चाहिए ? यह प्रश्न है, जो आज पाठकों के समक्ष विचारने के लिए रखा जा रहा है। आजकल सान्नायिक एक बार के पाठ द्वारा ही ग्रहण कर ली जाती है। परन्तु यह अधिक औचित्य पूर्ण नहीं है। दूसरे पाठों की अपेक्षा इस पाठ में विरोधता होनी चाहिए। प्रतिज्ञा करते समय हमें अधिक सावधान और उत्पलक रहने के लिए प्रतिज्ञा पाठ की तीन बार दुहराना आवश्यक है। मनोविज्ञान का नियम है कि—जब तक प्रतिज्ञा वाक्य को दूसरे वाक्यों से श्रुत नहल नहीं दिया जाता, तब तक वह मन पर रू संस्कार उत्पन्न नहीं कर सकता। भारतीय संस्कृति में तीन

वचन ग्रहण करना, यात्र भी रदवा के लिए अर्पणित माने जाते हैं। तीन बार पाठ पढ़ते समय मन, योग्यता की दृष्टि से कमजोर तीन बार प्रतिज्ञा के शुभ भावों से भरजाता है और प्रतिज्ञा के प्रति सिद्धि मंजूर होता है। पूर्ण एवं सुख हो जाता है।

गुरुदेव को वन्दन करते समय तीन बार प्रार्थना करने का विधान है। तीन बार ही त्रिस्तुतों का पाठ यात्र भी उस परम्परा के होते पढ़ा जाता है। आप विचार सकते हैं कि—प्रार्थना भक्तिप्रदर्शन के लिये एक ही काफी है, तीन प्रार्थना क्यों? वन्दन पाठ भी तीन बार बोलने का क्या उद्देश्य? आप कहेंगे कि यह गुरुभक्ति के लिए अत्यधिक धन व्यक्त करने के लिए है। मैं कहूँगा कि—सामायिक का प्रतिज्ञा पाठ तीन बार गहराना भी, प्रतिज्ञा के प्रति अत्यधिक धन और रदवा के लिए अर्पणित है।

तर्क के अतिरिक्त क्या कोई सामान्य प्रमाण भी है? हाँ, बोलिये। स्पष्टार मृगगत, अनुर्थ उद्देश के भाष्य में उल्लेख आता है—‘सामायिक त्रिस्तुतमद्भुतं च’—मा० ३०६। आचार्य मध्वगिरि, जो आत्मसाहित्य के समर्थ टीकाकार के नाम से विद्वत्संसार में परिचित हैं, उन्होंने भाष्य पर टीका करते हुए लिखते हैं कि—‘त्रिस्तुतं त्रिस्तुतं सामायिकमुच्चारयति।’ उक्त वाक्य का अर्थ है—सामायिक पाठ तीन बार उच्चारण करना चाहिए। स्पष्टार भाष्य ही नहीं, विशेष पूर्ण भी इस सम्बन्ध में यही स्पष्ट विधान करती है—‘तेन सामायिकं त्रिस्तुतमद्भुतं।’ अस्तु, प्राचीन भाष्यकारों एवं टीकाकारों के मत से भी सामायिक प्रतिज्ञा पाठ का तीन बार उच्चारण करना उचित है। यह ठीक है कि ये उल्लेख मातृ के लिए आए हैं, भाष्य के लिये नहीं। परन्तु मैं आपसे प्रश्न करता हूँ कि सामायिकता की दृष्टि से सातु की भूमिका ईंधी है या गृहस्थ की? हाँ तो अब उक्त भूमिका पात्र सातु के लिए तीन बार प्रतिज्ञा पाठ उच्चारण करने का विधान है, तब फिर गृहस्थ के लिए तो कोई विवाद ही नहीं रह जाता।



## लोगस्स का ध्यान

सामायिक लेने से पहले कायोत्सर्ग किया जाता है; यह ध्यात्म-तत्त्व की विशुद्धि के लिए होता है। प्रश्न है कि कायोत्सर्ग में क्या पढ़ना चाहिये, किस पाठ का चिन्तन करना चाहिए ? आजकल दो परम्पराएं चल रही हैं। एक परंपरा कायोत्सर्ग में ईर्यापथिक सूत्र का ध्यान करने की पद्धतिना है तो दूसरी परंपरा लोगस्स के ध्यान की। ईर्या पथिक के ध्यान के सम्बन्ध में एक अर्थचयन है कि जब एक बार ध्यान करने से पहले ही ईर्यावही सूत्र पढ़ लिया गया, तब फिर उसे दुबारा ध्यान में पढ़ने की क्या आवश्यकता है ? यदि कहा जाय कि यह आलोचना सूत्र है, अतः गमनागमन की क्रिया का ध्यान में चिन्तन आवश्यक है तो इसके लिये नियेदन है कि तब तो पहले ध्यान में ईर्या-वही पढ़ना चाहिए, और फिर बाद में खुले स्वर से। अतिचारों के चिन्तन में हम देखते हैं कि पहले ध्यान में चिन्तन होता है और फिर बाद में खुले रूप से मिच्छामि दुक्कडं दिया जाता है। ध्यान में मिच्छामि दुक्कडं देने की न तो परंपरा ही है और न औचित्य ही। अस्तु, जब पहले ही खुले रूप में ईर्यावही पढ़कर मिच्छामि दुक्कडं दे दी गई तो बाद में पुनः ध्यान में पढ़ने से क्या लाभ ? और दूसरे यदि पढ़ भी लो तो फिर उनकी मिच्छामि दुक्कडं कहां देते हो ? ध्यान तो चिन्तन के लिए ही है, मिच्छामि दुक्कडं के लिए नहीं। अतः लोगस्स के चिन्तन का पक्ष ही अधिक संगत प्रतीत होता है।

योगसूत्र के ध्यान के छिद् भी एक बात विचारणीय है। वह है कि शास्त्रकृत ध्यान में सम्पूर्ण 'योगसूत्र' पढ़ा जाता है, जब कि इसी प्राचीन परंपरा हमकी साक्षी नहीं देखी। प्राचीन परंपरा का अर्थ है कि ध्यान में "योगसूत्र" का पाठ 'चंद्रेणु निम्नप्रवरा' तक ही गाय जादिप, जो बाद में सुखे रूप से पढ़ते समय सम्पूर्ण पढ़ना आवश्यक है।

प्रतिक्रमस्य सूत्र के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य तिलक लिखते हैं—

"कायोत्सर्गे च चन्द्रेणु निम्नप्रवरेत्यन्तरचतुर्विंशतिस्तत्तीचनन्तः पारितेच समस्तो मन्त्रितव्यः।"

—प्रतिक्रमस्य सूत्र वृत्ति

आचार्य हेमचन्द्र जैन समाज के एक प्रसिद्ध साहित्यकार एवं महात् ज्योतिषीर आचार्य हुए हैं। आपने योग विषय पर सुप्रसिद्ध योगशास्त्र नामक ग्रन्थ लिखा है। उसकी स्वीकृत वृत्ति में योगसूत्र के ध्यान के सम्बन्ध में आप लिखते हैं—

"पञ्चविंशत्युच्छ्वासाश्च चतुर्विंशतिस्तत्तेन चन्द्रेणु निम्नप्रवरा एव न्तरेण पूर्णन्ते।" "सम्पूर्णकायोत्सर्गश्च नमो धारिताय इति नमस्कार पूर्ण पारयित्वा चतुर्विंशतिस्तत्र सम्पूर्णं पठति" —द्वितीय प्रकरण।

यह तो हुई प्राचीन प्रमाणों की चर्चा। अब जरा मुक्तिवाद का भी विचार कर लें। कायोत्सर्ग अन्तर्जगत् की वस्तु है। बाह्य इन्द्रियों का आधार हटाकर केवल मानस लोक में ही प्रवृत्ति करना, इसका उद्देश्य है। अतः कायोत्सर्ग एक प्रकार की आध्यात्मिक विद्या है। गिरा जगत् का प्रतिनिधि चन्द्र है, सूर्य नहीं। सूर्य बाह्य प्रवृत्ति का, इन्द्रिय का प्रतीक है। अस्तु कायोत्सर्ग में 'चंद्रेणु निम्नप्रवरा' तक का पाठ ही ठीक आध्यात्मिक स्वप्नता का सूचक है।

एक बात और भी है। ध्यान में प्रभु के स्वरूप का चिन्तन ही किया जाता है, प्रार्थना नहीं। अन्तिम प्रार्थना स्पष्ट रूप से प्रगट होनी चाहिये। इस दृष्टि से भी गायत्रि के अवशिष्ट तीन चरण ध्यान में

पढ़ना उचित नहीं जान-पड़ता; क्योंकि यह मार्पना का भाग है। मनोविज्ञान की दृष्टि से भी ध्यान और गुले रूप में पढ़ने का कुछ प्रभार होना चाहिए। विद्वानों से इस सम्बन्ध में अधिक विचार करने की मार्पना है।

सोमस्म के ध्यान के सम्बन्ध में एक बात और स्पष्ट करना आवश्यक है। आजकल सोमस्म पढ़ा तो जाता है, परन्तु यह सरसजा नहीं रही, जो पहले थी। इसका कारण बिना अध्य के यों ही चल चल रहा है। सोमस्म का पाठ कर लेना है। हमारे हरिन्द्य धारि मार्पान आचार्यों ने कापोत्पत्ति में सोमस्म का ध्यान करते हुए ब्राह्मण-पुत्रास की ओर अध्य करने का विधान किया है। उनका कहना है कि सोमस्म का एक-एक पद एक-एक रसास में पढ़ना चाहिए, एक ही रसास में कई पद पढ़ लेना, कथमपि उचित नहीं है। यह ध्यान नहीं, बेगार करवा है। यह होर्परवास प्रासादान का एक नद्वय रूप कम है। और प्रासादान दोन साधना का, मन को निग्रह करने का बहुत अध्यासाधन है। हों तो इस प्रकार नियम यह होर्परवास से ध्यान किया जायता तो प्रासादान का अध्यास होना, सम्य के साथ धर्म की रहित विचारणा का भी साथ होता। प्रासन का परिचय केवल सम्य का साक्षात्कार से नहीं होता है यह तो सम्य के साथ धर्म की संकीरणा से उतरने से ही प्राप्त हो सकती है। पाठक आहत्य होकर रसास गलका के विद्यमानुसार, यदि धर्म का मनन करते हुए, सम्य के धारण से अधि का प्रदाह बहाने हुए, प्रत्यक्ष विष से सोमस्म का ध्यान करने लगे वे अवश्य ही अमनस्कृति से आत्मद विमोह होकर अपने प्रासन का परिचय खोखला, यदि हठका अध्य न होकर तो जैसे यह पता जा रहा है यह पारदा ही एक है। परन्तु सीधका न करके सीधे-सीधे धर्म की विचारणा अवश्य अवहित है।

: २८ :

## उपसंहार

सामायिक के मूल पाठों पर विवेचन करने के बाद मेरे हृदय में एक विचार उठा कि 'आज की जनता में सामायिक के सम्बन्ध में बहुत ही कम जानकारी है, अतः प्रस्तावना के रूप में एक साधारण सा पुरोधचन लिखना अच्छा होगा।' अस्तु पुरोधचन लिखने लगा गया और मूल भागभों, टीकाओं, स्वतंत्र ग्रन्थों एवं हथर ऊपर की पुस्तकों से जो सामग्री मिलती गई, लिखता चला गया। फलस्वरूप पुरोधचन आधा से कुछ अधिक लम्बा हो गया, 'किर भी सामायिक के सम्बन्ध में कुछ अधिक प्रकाश नहीं डाल सका। जैन साहित्य में सामायिक को सम्पूर्ण इन्द्र-शास्त्री का मूल माना गया है, और इस पर पूर्वाचार्यों ने इतना अधिक लिखा है कि जिसकी कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती। किर भी 'पादरुद्रिदलोदयम्' जो कुछ समझ कर पाया है, समस्तोपी पाठक उसी पर से सामायिक की महत्ता की झोंकी देखने की कृपा करें।

अब पुरोधचन का उपसंहार चल रहा है, अतः श्रेणी पाठकों की जल्दी बातों में न लेजा कर, संक्षेप में, एक दो बातों की और ही ध्यान खींचना है। हमारा काम थाप के समस्त आदर्श रख देने भर का है, उस पर चर्चना या न चर्चना आपके अपने लक्ष्यों के ऊपर है—  
'प्रवृत्तिसारा खलु मादृशा गिरः।'

किमो भी वस्तु की महत्ता का पूरा परिचय, उसे साधारण में खाने से ही हो सकता है। पुस्तकें तो केवल आपकी साधारण सी झोंकी ही

दिखा सकती है। अस्तु सामायिक की महत्ता आपकी सामायिक करने पर ही नात्म हो सकती है। मिथी की डली, हाथ में रखने भर से मधुरता नहीं दे सकती, हाँ मुँह में डालिए आप ध्यानन्द विभोर हो जायेंगे। यह आचरण का शास्त्र है। आचारहीन को कोई भी शास्त्र आध्यात्मिक तेज अर्पण नहीं कर सकता। अतः आपका कर्तव्य है कि प्रतिदिन सामायिक करने का अभ्यास करें। अभ्यास करते समय पुस्तक में बताए गए नियमों की ओर लक्ष्य देते रहें। प्रारंभ में भले ही आप कुछ ध्यानन्द न प्राप्त कर सकें, परन्तु ज्योंही दृढ़ता के साथ प्रतिदिन का अभ्यास चालू रखेंगे तो अचर्य ही आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रगति कर सकेंगे। सामायिक कोई साधारण धार्मिक क्रिया काण्ड नहीं है, यह एक उच्च कोटि की धर्म साधना है। अतः अष्टांग पद्धति से किया गया हमारा सामायिक, हमें सारा दिन कान आ सके इतना मानसिक बल और शान्ति देने वाला एक महान शक्तिशाली अस्त्रण्ड करना है।

आजकल एक नास्तिकता फैल रही है कि सामायिक क्यों करें? सामायिक से क्या लाभ? प्रतिदिन दो घड़ी का समय खर्च करने के बदले में हमें क्या मिलता है? आप इन कल्पनाओं से सर्वथा अलग रहिये। आध्यात्मिक क्षेत्र के लिए यह धैर्य-वृत्ति बड़ी ही आवश्यक है। एक रुपये के बदले में एक रुपये की चीज लेने के लिए ऋणदत्ता, बाजार में तो ठोक हो सकता है, धर्म में नहीं। यह मजदूरी नहीं है। यह तो मानव जीवन के उत्थान की सर्वधेष्ट साधना है। यहाँ सौदाबाजी नहीं, प्रत्युत जीवन को साधना के प्रति सर्वतोभावेन समर्पण करना ही, प्रत्युत साधना का मुख्य उद्देश्य है। भले ही कुछ देर के लिए आपको स्थूल लाभ न प्राप्त हो सके, परन्तु सूक्ष्म लाभ तो इतना बढ़ा होता है, जिसकी कोई उपमा नहीं।

यदि कोई हठमयी यह कहे कि निद्रा में जो दुष्ट-मात्र घंटे चले जाते हैं; उसमें कोई स्थूल प्रयत्न की प्राप्ति तो बड़ी होती, अतः मैं निद्रा ही न तु जा तो उस भ्रम का क्या हाल होगा? नारा। पाच-मात्र





के महान् मार्गों को पाकर भी हम उन्नत नहीं हो पाते, आध्यात्मिक उन्नति भूमिका पर चढ़ नहीं पाते ।

हैं तो साम्प्रतिक में हमें बड़ी सावधानी के साथ अन्तर्मुख में प्रवेश करना चाहिए । बाह्य जीवन की धोर अभिमुख रहने से साम्प्रतिक की विधि का पूर्णरूपेण पाठन नहीं हो सकता । अस्तु साम्प्रतिक में अगवान् तीर्थंकर देव की स्तुति भक्त्याम्बर आदि स्तोत्रों के द्वारा करना चाहिए, ताकि आत्मा में धरा का अर्घ्य तेज प्रगट हो सके । महापुरुष के जीवन की व्यक्तियों का विचार करना चाहिए, ताकि आत्मों के सम आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रकट हो सके । पवित्र धर्मपुस्तकों : अभ्ययन, चिन्तन, मनन एवं कथकार मंत्र का जप करना चाहिए, ताकि हमारी अज्ञानता और अंधरा का संहार हो । यदि हम प्रकार साम्प्रतिक का पवित्र समय निजारा आय तो प्रसरण ही आत्मा निश्चेयत प्राप्त । सकेगी, परमात्मा के पद ॐ पहुँच सकेगी । शान्ति । शान्ति । शान्ति !!!

श्रीवाचसी सं० २००१

महेश्वरगढ़, पटियावाड़ा

—मुनि अमरचन्द्र 'अम



# सा मा यि क सूत्र



# ◎ 詩 ◎

## 朝鮮의 獨立을 爲한

朝鮮의 獨立을 爲한  
 朝鮮의 獨立을 爲한  
 朝鮮의 獨立을 爲한  
 朝鮮의 獨立을 爲한  
 朝鮮의 獨立을 爲한

朝鮮의 獨立을 爲한, 朝鮮의 獨立을 爲한, 朝鮮의 獨立을 爲한  
 朝鮮의 獨立을 爲한, 朝鮮의 獨立을 爲한, 朝鮮의 獨立을 爲한

## 朝鮮의 獨立을 爲한

朝鮮의 獨立을 爲한	朝鮮의 獨立을 爲한
朝鮮의 獨立을 爲한	朝鮮의 獨立을 爲한
朝鮮의 獨立을 爲한	朝鮮의 獨立을 爲한
朝鮮의 獨立을 爲한	朝鮮의 獨立을 爲한
朝鮮의 獨立을 爲한	朝鮮의 獨立을 爲한
朝鮮의 獨立을 爲한	朝鮮의 獨立을 爲한
朝鮮의 獨立을 爲한	朝鮮의 獨立을 爲한
朝鮮의 獨立을 爲한	朝鮮의 獨立을 爲한

## 朝鮮의 獨立을 爲한

朝鮮의 獨立을 爲한	朝鮮의 獨立을 爲한
朝鮮의 獨立을 爲한	朝鮮의 獨立을 爲한
朝鮮의 獨立을 爲한	朝鮮의 獨立을 爲한

परिहन्त आदि महा पुरुषों का नाम लेने से पापमल इस प्रकार धु हो जाते हैं, जिस प्रकार सूर्य देव के उदय होने पर चोट मारने वाले हैं। सूर्य ने चोरो को छाडी मार कर नहीं भगाया, किन्तु निमित्तमात्र से ही चोरो का पञ्चावन हो गया। सूर्य कमल को खिलाने-विकसित करने, कमल के पास नहीं जाता, किन्तु उसके समान मरुद्वय में उरु होते ही कमल स्वयं खिल उठते हैं। कमलों के विकास में सूर्य निमित्त कारण है, साक्षात्कर्ता नहीं। इसी प्रकार पर्यन्त आदि महान आत्माओं का नाम भी संसारी आत्माओं के उत्थान में निमित्त कारण बनता है। सत्पुरुषों का नाम लेने से विचार पवित्र होते हैं। विचार पवित्र होने से असहस्रकल्प नहीं हो पाते हैं। आत्मा में बल, साहस, शक्ति का संघार होता है, स्वस्वकप का भाव होता है। और वह कर्म कथन उसी प्रकार हो जाते हैं, जिस तरह बंका में मरुपात में बंधे हुए इनुमान के हड बन्धन धिन्न भिन्न हो गए थे। कब, जब कि उसे वह मान हुआ कि मैं इनुमान हूँ, मैं इन्हें छोड़ सकता हूँ।

जैनधर्म की जितनी भी शाखाएँ हैं, उनमें चाहे कितना ही नवीन विस्तृत भेद हो, परन्तु प्रस्तुत नमस्कार मंत्र के सम्बन्ध में सब के सब एक मत है। वह यह केन्द्र है, जहाँ हम सब दूर दूर के पात्री एकत्र हो जाते हैं। जैनों को अपने इस महामंत्र पर गर्व है। इसमें मानव जीवन की महान ऊँची भूमिकाओं को सम्मिल कर के मुख-पूजा का महत्व प्रगट किया गया है। चाप देखेंगे कि हमारे पदीसी संन्यासों के मंत्रों में व्यक्तिवाद का प्राचुर्य है, कहीं इन्द्र की स्तुति है तो कहीं विष्णु, शिव, ब्रह्मा, चन्द्र, सूर्य आदि की स्तुतिचो है। परन्तु नमस्कार मंत्र चापके समग्र है, चाप इसमें किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं बता सकते। यहाँ तो जो गुणों के विकास से ऊँचे हो गए हैं, उनमें नमस्कार है, भले ही वे किसी भी जाति, वर्ण, देश, वेद या संन्यास से सम्बन्ध रखते हों। बाह्य जीवन की विशेषताओं का प्रदन नहीं है, प्रदन है, आत्मा की आध्यात्मिक विशेषताओं का। अहिंसा, सत्य आदि

आध्यात्मिक दुष्टों का विनाश ही गुण-रूपा का कार्य है, और यही नमस्कार मंत्र का अत्यन्त प्रयोजन है।

महात्म्य नमस्कार का सर्वप्रथम विवरणितकर पद, अतिहन्त है। पुरुषों को हनन करने वाले अतिहन्त होते हैं। जिन अन्तःपुरुषों के कारण बाल भूमिका में अनेक शत्रु बने होते हैं, दुष्ट और स्वर्ण के संघर्ष होते हैं, उग्र क्रोध, मोह, मद, लोभ, राग, द्वेष आदि पर ऐसे विजय प्राप्त करने वाले और अहिंसा पूर्व शक्ति के अन्तःकरणों के कारण ही अतिहन्त भयानक कहलाते हैं—अतिहन्तात् अतिहन्तः।

तिष्ठ शब्द का अर्थ—रुख है। जो महात्मा आत्मा कर्म-मल से सर्वथा मुक्त हो कर, अन्तःकरणों के चक्र से सदा के लिए मुक्त होकर, अजर, अमर, तिष्ठ, बुद्ध, मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं, वे तिष्ठ पद से सम्बोधित होते हैं। तिष्ठ होने के लिए पहले अतिहन्त को भूमिका ठग करनी होती है। अतिहन्त हुए बिना तिष्ठ नहीं बना जा सकता। लोकमनसा में जाग्रदनुत्ति अतिहन्त होते हैं, और विदेहनुत्ति तिष्ठः—'तिष्ठन्ति तन्मतेनानां भवन्ति तन्मतेनानां'।

आचार्य का उल्लास पद है। जीवन में आचार्य का बड़ा महत्त्व है। पद-पद पर सदाचार के मार्ग पर प्यास रखना ही जैव साधक को भेदज्ञ का प्रमाण है। अतः, जो आचार्य का मंत्र का स्वयं पाठन करते हैं, और सब का नेतृत्व करते हुए दूसरों में पाठन करते हैं, वे आचार्य कहलाते हैं। जैव आचार्य-परंपरा के अहिंसा, सत्य, अस्तेय, महात्मा और अतिहन्त ये चार मुख्य धर्म हैं। आचार्य को इन चारों महात्माओं का अत्यन्त से स्वयं पाठन करना होता है। दूसरे मुख्य धर्मों को भी, भूत होने पर, उचित-अत्यतिथि आदि देकर, सत्य पर अमर करना होता है। साधु, साध्या, भार्यक और भार्यक-ये चतुर्विध सत्य हैं, इतको आध्यात्मिक साधना के नेतृत्व का नमः आचार्य पर होता है—'आचार्योऽयं यतो ह्ये आचार्यः'।



है। यह संसार में जहां भी जिस किसी भी व्यक्ति के पास हो, अभिपन्दीय है। नमस्कार हो, लोक में=संसार में जिस किसी भी रूप में जो भी भाव साधु हों, उन सम्बन्ध=सबको ! कितना दीक्षिमान् महान् आदर्श है।

पाँचों पदों में प्रारंभ के दो पद देवकोटि में आते हैं, और अन्तिम तीन पद आचार्य, उपाध्याय, साधू, गुरु कोटि में। आचार्य, उपाध्याय साधू तीनों सभी साधक हो हैं, आत्मविकास की अपूर्ण अवस्था में ही हैं। यतः अपने से निम्न धैर्य के धावक आदि साधकों के पूज्य और उत्तम धैर्य के अरिहन्त आदि देवत्व के पूजक होने से गुरुवर की कोटि में हैं। परन्तु अरिहन्त और सिद्धों का जीवन के अन्तिम विकास पद पर पहुँच गए हैं, यतः सिद्ध हैं, देव हैं। उनके जीवन में जरा भी असावधानी का, प्रमाद का लेश नहीं रहा, यतः उनका पतन नहीं हो सकता। अरिहन्त भी सिद्ध=पूर्ण हो हैं। अनुयोग द्वार सूत्र में उन्हें सिद्ध कहा भी है। अन्तरात्मा की पवित्रता की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। अन्तर केवल प्रारब्ध कर्मों के भोग का है। अरिहन्त प्रारब्ध कर्म भोगते हैं, जब कि सिद्धों को शरीर रहित मुक्ति मिल जाने के कारण प्रारब्ध कर्म होते नहीं।

● भूतिका में पाँचों पदों के नमस्कार की महिमा कथन की गई है। मूल नमस्कार मंत्र का पाँच पद तक ही है। किन्तु यह भूतिका भी कुपु कमनहाय की नहीं है। बिना प्रयोजन के मूर्ख भी प्रवृत्ति नहीं कर सकता—'प्रयोजनमनु रश्मि मन्दाग्र न प्रयत्नः' और यह प्रयोजन बताना ही भूतिका का उद्देश्य है। भूतिका में बताया गया है कि पौष्ट परमेष्ठी को नमस्कार करने से सब प्रकार के पापों का नाश हो जाता है। नाश ही नहीं, प्रकाश हो जाता है। प्रकाश का अर्थ है, पूर्ण रूप से माया, सदा के लिए नाश। कितना उत्कृष्ट प्रयोजन है ?

भूतिका में पहले पापों का नाश बतलाया है, और बाद में महज का उल्लेख किया है। पहले दो पदों में हेतु का उल्लेख है, तो अन्तिम

दो पदों में कार्य का, फल का वर्णन है। जब आत्मा वाप-कालिमा में पूर्णतया साफ हो जाता है तो फिर सर्वत्र सर्वदा आत्मा का मंगल ही मंगल है, कल्याण ही कल्याण है। नमस्कार मंत्र हमें वापमल्ल अन्व अभावामक स्थिति पर ही नहीं पहुँचाता, प्रत्युत मिलनमल्ल मंगल अन्व विधान करके हमें पूर्ण आशावादी बनाता है, भावामक स्थिति पर भी पहुँचाता है।

आचार्य जमसेन नमस्कार मन्त्र पर विवेचन करते हुए, नमस्कृत के दो भेद बतलाते हैं। एक द्वैत नमस्कार और दूसरा अद्वैत। अर्थात् उपास्य और उपासक में भेद प्रतीत रहती है, मैं उपासना करने वाला हूँ और वे अरिहन्त आदि मेरे उपास्य हैं—यह द्वैत बना रहता है, यह द्वैत नमस्कार है। और जब कि राग द्वेष के विकल्प नष्ट हो जाने पर चित्त की इतनी अधिक स्थिरता हो जाती है कि जिसमें आत्मा अपने आप को ही अपना उपास्य अरिहन्त आदि रूप समझता है और केवल स्वस्वरूप का ही ध्यान करता है, वह अद्वैत नमस्कार कहलाता है। दोनों में अद्वैत नमस्कार ही भेद है। द्वैत नमस्कार, अद्वैत का का साधन माध्य है। पहले-पहल साधक भेद प्रधान साधना करता है, और बाद में उपो-उपो आगे प्रगति करता है, ध्यो-न्यो अभेद प्रधान माध्यक बनता है। पूर्ण अभेद साधना अरिहन्त दशा में प्राप्त होती है।

—‘अहमाराधकः एनं च अर्हदादय आराध्या हवाराध्यायधकं विकल्पं कृतो द्वैत नमस्कारो भवति। रागाद्युपाधि विकल्प रहित परमसमाधि यत्नेनात्मन्येव आराध्यायधकं भावः पुनरद्वैत नमस्कारो भवति।’

—एवमन सार तात्पर्यं वृत्तिः।

अद्वैत नमस्कार की साधना के द्विष्ट साधक को निरवयव दृष्टि-वशात् होना चाहिये। जैन-धर्म का परम अर्थ निरवयव दृष्टि है। हमारी विजय-यात्रा बीच में ही कहीं टिक रहने के द्विष्ट नहीं है। हम तो धर्म-विजय के रूप में एक-मात्र अपने आत्म-स्वरूप रूप परम अर्थ पर



पहुँचना चाहते हैं। अतः नमस्कार मंत्र पढ़ते हुए साधक को नमस्कार के पाँच महान् पदों के साथ अपने आपको सर्वथा अन्विष्ट अनुभव करना चाहिए। विचार करना चाहिए कि 'मैं मात्र आत्मा हूँ, कर्म मल से अलिप्त हूँ। यह जो कुञ्ज भी कर्म-बन्धन है, मेरी अज्ञानता के कारण ही है। यदि मैं अपने इस अज्ञान के पदों को, मोह के आवरण को दूर करता हुआ आगे बढ़ूँ और अन्त में इसे पूर्ण रूप से दूर करदूँ तो मैं भी कमलः साधु हूँ, उपाध्याय हूँ, आचार्य हूँ, अरिहन्त हूँ, और सिद्ध हूँ। मुझ में और इनमें भेद ही क्या रहेगा? उस समय तो मेरी नमस्कार मुझे ही होगी न? और अब भी जो मैं यह नमस्कार कर रहा हूँ, सो गुलामों के रूप में किसी के आगे नहीं झुक रहा हूँ। प्रत्युत आत्म-गुणों का ही आदर कर रहा हूँ; अतः एक प्रकार से मैं अपने आपको ही नमन कर रहा हूँ।' जैन शास्त्रकार जिस प्रकार भगवतीसूत्र आदि में निरचय-दृष्टि की प्रमुखता से आत्मा को ही सान्नायिक कहते हैं; वसी प्रकार आत्मा को ही पंच परमेष्ठो भी कहते हैं। अतः निरचय नप से यह नमस्कार पाँच पदों को न होकर अपने आप को ही होती है। इस प्रकार निरचय-दृष्टि की उच्च भूमिका पर पहुँच कर, जैन-धर्म का वत्सचिन्तन, अपनी चरम-सीमा पर अग्रस्थित हो जाता है। अपने आत्मा को नमस्कार करने का भावना के द्वारा अपने आत्मा की पूज्यता, उच्चता, परिश्रुता और अन्तर्लोक्यता परमात्मरूपता प्रकट होती है। जैन-धर्म का गंभीर घोष है कि 'अपना आत्मा ही अपने भाग्य का निर्माता है, अक्षय्य भाव-शान्ति का भण्डार है, और शुद्ध परमात्म-रूप है—'अन्ना तो परमन्ना' यह वाक्य नमस्कार आदि को भूमिका मात्र प्रारंभ का मार्ग है। इसकी सफ़लता, पूर्णता निरचय भाव पर पहुँचने में ही है, अन्यत्र नहीं। हाँ, यह जो कुञ्ज भी मैं कह रहा हूँ, केवल मति कल्पना ही नहीं है। इन प्रकार अद्वैत नमस्कृत की भावना का अनुशीलन कुञ्ज पर्याचार्यों ने किया भी है। एक आचार्य कहते हैं—

नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं, नमस्तुभ्यं नमोनमः ।

नमो मया नमो मया, नमो मया नमोनमः ॥

जैन-संसार के मुनिसिद्ध मर्मी संत भी आनन्दधन जी भी एक उग्र भगवत्स्तुति करते हुए वही ही मुन्दर मरम भाव-तरंग में कह रहे हैं—

अशो अशो हूँ मुझने नन्, नमो मुझ नमो मुझ रे ।

आम्नेत फलदान दाजारनी, जेरने भेंट गई तुझ रे ॥

मन्त्रकारमंत्र के पाँचों पशों में सर्वत्र आदि में बोला जाने वाला नमो पद, पूजार्पक है । इसका भाव यह है कि महापुरुषों को नमस्कार काय ही उनको पूजा है । नमस्कार के द्वारा हम नमस्करणीय पवित्र आत्मा के प्रति अपनी भक्ति, भक्ति और पूर्ववर्तिभक्ति प्रकट करते हैं । यह नमस्कार-पूजा दो प्रकार से होती है—द्रव्य नमस्कार और भाव नमस्कार । द्रव्य-नमस्कार का अभिप्राय है, हाथ-पैर और मस्तक आदि अंगों को एक बार हरकत में लाकर महापुरुषकी ओर मुका देना, स्थिर कर देना । और भाव नमस्कार का अभिप्राय है—मन के चंचल मन को इधर-उधर के विचित्रों से हटाकर महापुरुष की ओर प्रविष्टात्मक एकाग्र करना । नमस्कार करने वालों का कर्तव्य है कि वह दोनों ही प्रकार का नमस्कार करें । नमः शब्द पूजार्पक है, इसके लिए धर्म संग्रह का हमारा अधिकार देखिए—

— नमः इति नैगतिष्ठ पदं पूजार्थम् । पूजा च द्रव्यभाष-सकोचः । तत्र कर शिरः पादादिद्रव्यसन्त्यासो द्रव्यमङ्कोचः । भावसकोचस्तु दिगुदत्त मनसो योगः ।

यद्यपि आध्यात्मिक परिशुद्धात्म निष्कलकता की सर्वोत्कृष्ट दशा में पहुँचे हुए पूर्ण विशुद्ध आत्मा केवल सिद्ध भगवान हो हैं, भक्त सर्व प्रथम उन्हीं को नमस्कार को जानी चाहिये थी । परन्तु सिद्ध भगवान के स्वरूप को बतलाने वाले, और अज्ञान संशय में भटकने वाले मानव संसार को मत्त्व की अलख ज्योति कै दर्शन कराने वाले परमोपकारी भी अविद्वान भगवान ही हैं, अतः उनको ही सर्वप्रथम नमस्कार

किया गया है। यह व्यावहारिक दृष्टि की विशेषता है। प्रश्न हो सकता है कि इस प्रकार तो सर्वप्रथम साधु को ही नमस्कार करना चाहिए। क्योंकि आजकल हमारे लिए तो यही सत्य के उपदेष्टा हैं। उत्तर में निवेदन है कि सर्व प्रथम सत्य का साक्षात्कार करनेवाले और केवल ज्ञान के प्रकार में सत्यासत्य का पूर्ण विवेक परखनेवाले तो श्री अरिहंत भगवान ही हैं। उन्होंने जो कुछ सत्य बातों का प्रकाश किया, उसी को आजकल मुनि महाराज जनता को बताते हैं। स्वयं मुनि तो सत्य के साथे साक्षात्कार करने वाले नहीं हैं। वे तो परंपरा से आनेवाला सत्य ही जनता के समक्ष रख रहे हैं। अतः सत्य के पूर्ण अनुभवी मूल उपदेष्टा होने की दृष्टि से, गुरु से भी पहले, अरिहंतों को नमस्कार है।

जैन-धर्म में नवकार मंत्र से यहकर कोई भी दूसरा मंत्र नहीं है। जैन-धर्म अध्यात्म-विचारधारा प्रधान धर्म है, अतः उसका मंत्र भी अध्यात्म-भावना प्रधान ही होना चाहिए था। और इस रूप में नवकार मंत्र सर्वश्रेष्ठ मंत्र है। नवकार मंत्र के सम्यग्धर्म में जैन परंपरा की मान्यता है कि यह संपूर्ण जैन वाङ्मय का अर्थात् चौदह पूर्व का सार है, निचोड़ है। चौदह पूर्व का सार इसलिए है कि इसमें समभाव की महत्ता का दिग्दर्शन कराया गया है, बिना किसी साम्प्रदायिक या मिथ्या जातिगत विशेषता के गुण-भूजा का महत्त्व बताया गया है। जैन धर्म की संस्कृति का प्रवाह समभाव की लक्ष्य में रखकर ही प्रवाहित हुआ है, फलतः संपूर्ण जैन-साहित्य इसी भावना से ओत-प्रोत है। जैन-साहित्य का सर्वप्रथम मंत्र नवकार मंत्र भी उसी दिव्य समभाव का प्रमुख प्रतीक है। अतः यह चौदह पूर्व रूप जैन साहित्य का सार है, परम निष्पन्द है। नवकार को मंत्र क्यों कहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जो मनन करने से, वितन करने से दुःखों से आर-रक्षा करता है, वह मंत्र होता है। 'मंत्रः परमो जेपो मनन तारोद्धतो निरनात्।' यह न्युत्पत्ति नवकार मंत्र पर ठीक बैठती है। यौतराग महापुरुषों के प्रति अक्षय्य धन-भक्ति व्यक्त करने में अपने आपकी हीन समझने

रूप संशय का नाश । -- १. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. १०. ११. १२. १३. १४. १५. १६. १७. १८. १९. २०. २१. २२. २३. २४. २५. २६. २७. २८. २९. ३०. ३१. ३२. ३३. ३४. ३५. ३६. ३७. ३८. ३९. ४०. ४१. ४२. ४३. ४४. ४५. ४६. ४७. ४८. ४९. ५०. ५१. ५२. ५३. ५४. ५५. ५६. ५७. ५८. ५९. ६०. ६१. ६२. ६३. ६४. ६५. ६६. ६७. ६८. ६९. ७०. ७१. ७२. ७३. ७४. ७५. ७६. ७७. ७८. ७९. ८०. ८१. ८२. ८३. ८४. ८५. ८६. ८७. ८८. ८९. ९०. ९१. ९२. ९३. ९४. ९५. ९६. ९७. ९८. ९९. १००.

प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में जो महात्माओं परमेष्ठी के रूप में वर्णित हैं, वे परमेष्ठी कहलाती हैं। आध्यात्मिक विकास के पथ पर पहुँचे हुए जीव ही परमेष्ठी माने गए हैं और भिक्षु परमेष्ठी आत्माओं को नमस्कार किया गया है, वह मंत्र परमेष्ठी कहलाता है।

जैन परम्परा नवकार मंत्र को महा मंगल के रूप में बहुत बड़ा स्थान देती है। अनेक आचार्यों ने इस सम्बन्ध में बड़ा की महिमा का वर्णन किया है और नवकार की पूजिका में भी कहा गया है कि नवकार ही सब मंगलों में प्रथम अर्थात् प्रथम आत्मन् को प्रथित=विस्तृत करने वाला सर्व प्रथम मंगल है। 'मंगलाय सर्वेति पदम इत्य मंगलम्' है, तो जरा मंगल के ऊपर भी विचार करें कि यह प्रथम मंगल किस प्रकार है?

मंगल के दो प्रकार हैं—एक द्रव्य मंगल और दूसरा भाव मंगल। द्रव्य मंगल की शौकिक मंगल और भाव मंगल को शौकिक मंगल कहते हैं। दही और अण्ड आदि द्रव्य मंगल माने जाते हैं साधारण जनता इन्हीं मंगलों के व्यामोह में पड़ी पड़ी है। अनेक प्रकार के मिथ्या विश्वास द्रव्य मंगलों के कारण ही पैड़े हुए हैं परन्तु जैन धर्म द्रव्य मंगल की महिमा में विश्वास नहीं रखता क्योंकि वे मंगल, धर्ममंगल भी हो जाते हैं और सदा के लिये दुःखरूप धर्ममंगल का अन्त भी नहीं करते, अतः द्रव्य मंगल ऐकान्तिक और अस्थायिक मंगल नहीं हैं। दही यदि ज्वर की दशा में लाया जाय तो क्या होगा? अण्ड यदि मलिन पर न लग कर भोजन में पड़ जाय तो क्या होगा? धर्ममंगल ही होगा न? अस्तु, द्रव्य मंगल का मोह

घोड़कर लम्बे साधक को भाव मंगल ही धरना चाहिए। नमस्कार मंत्र भाव मंगल है। यह अन्तर्गत से, भाव लोक से सम्बन्ध रखता है अतः भाव मंगल है। यह भाव मंगल सर्वदा और सर्वदा मंगल ही रहता है, साधक को सब प्रकार के संकटों से बचाता है, कभी भी परममंगल पूर्व अहितकर नहीं होता। भाव मंगल उप, उप, ज्ञान, दर्शन, स्मृति, चारित्र्य, नमस्कार, निपन आदि के रूप में अनेक प्रकार का होता है। ये सब के सब भाव मंगल, मोक्ष रूप सिद्धि के साधक होने से ऐकान्तिक एवं आत्मन्तिक मंगल हैं। नमस्कार मंत्र उप तथा नमस्कार रूप भाव मंगल है। इसके शुभ कार्य करने से पहले नमस्कार मंत्र पढ़ कर भाव मंगल कर लेना चाहिए। यह सब मंगलों का राजा है, अतः संसार के अन्य सब मंगल इमों के दासतुदास हैं। मन्त्रे जैन की बज्रों में उनका क्या महत्त्व ?

नमस्कार मंत्र के नमस्कार मंत्र, परमेश्वर मंत्र आदि कितने ही नाम हैं। परन्तु सब से प्रसिद्ध नाम नमस्कार ही है। नमस्कार मंत्र में नम आशय मौ पद है, अतः इसे नमस्कार मंत्र कहते हैं। पाँच पद का मूल पदों के हैं और चार पद चतुष्टय के इस प्रकार कुल मौ पद होते हैं। एक परमेश्वर, मौ पद दूसरे प्रकार से भी जानती हैं। यह इस प्रकार कि पाँच पद का मूल के हैं और चार पद नम नमः=ज्ञान की नमस्कार हो, नमः नमः=दर्शन की नमस्कार हो, नमः परमेश्वर=चारित्र्य की नमस्कार हो, नमः उप=उप की नमस्कार हो, उप की चतुष्टय के हैं। इस परमेश्वर में अहिम्मा आदि पाँच पद साधक और सिद्ध की भूमिका के हैं तथा अन्तिम चार पद साधक के सूचक हैं। ज्ञान आदि की साधन के द्वारा ही साधु आदि साधक अध्यात्म क्षेत्र में प्रगति करते हुए, अन्तिम अहिम्मा करते हैं और परचल अन्तर अन्तर सिद्ध हो जाते हैं। इस परमेश्वर में ज्ञान आदि चार गुणों की नमस्कार करके जैन धर्म में प्रसन्न गुण पूजा का महत्त्व समझ लिया है। अतएव साधु आदि पदों का महत्त्व व्यक्ति की रति में नहीं गुणों की रति

से है। साधक की महत्ता ज्ञान आदि की साधना के द्वारा ही है, अन्यथा नहीं। और जब ज्ञानादि की साधना पूर्ण हो जाती है, तब साधक परिहृत सिद्ध के रूप में देवकोटि में आ जाता है। ही से दोनों ही परम्पराओं के द्वारा भी पद होते हैं और इसी कारण प्रभु मंत्र का नाम नवकार मंत्र है। नवकार मंत्र के नौ पद ही क्यों हैं? नौ पद का क्या महत्त्व है? इन प्रश्नों पर भी यदि कुछ सोचा जा विचार कर लें तो एक गम्भीर रहस्य स्पष्ट हो आया।

भारतीय साहित्य में नौका शंक अक्षय सिद्धि का सूचक माना गया है। दूसरे शंक अक्षय नहीं रहते, अपने स्वयं से व्युत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु नौका शंक हमेशा अक्षय अक्षय बना रहता है। उदाहरण के लिए दूर व आकर, मात्र नौ के पढ़ावे को ही ले लें। पाठक साधना के साथ नौका पढ़ाया मिलते जायें, सर्वत्र नौका शंक ही देख कर नै उपलब्ध होगा:—

$$६ + ६$$

$$१२०१ + १२०६$$

$$२४०२ + २४०६$$

$$३६०३ + ३६०६$$

$$४८०४ + ४८०६$$

$$६००५ + ६००६$$

$$७२०६ + ७२०६$$

$$८४०७ + ८४०६$$

$$९६०८ + ९६०६$$

आपकी समझ में ठीक और से आ गया होगा कि आठ और दस नौ, मात्र और नौ नौ, छः और तीन नौ, पाँच और चार नौ—इस अक्षय शंकों में गुणाकार के द्वारा नौका शंक पूर्ववत् अक्षय ही रहता है। गणित शास्त्र की यह साधारण सी प्रक्रिया, नौ के शंक की अक्षयस्वरूपता का सुन्दर परिचय दे देती है। नौ के शंक की प्रवृत्ति



१ के आगे का ० शून्य है। हाँ तो वमस्कार महामंत्र की श्रुति इस साधना करने वाला साधक भी १ के बढ़ाने के समान विकसित होता अन्त में १० के रूप में अर्थात् सिद्ध रूपमें पहुँच जाता है, आत्मा में मात्र अपना निजी श्रुति रूप ही बचा रह जाता है। का अश्रुत अंग सदा काक के बिपु पूर्ववत्ता नष्ट हो जाता है।



: २ :

### सम्यक्त्व-सूत्र

अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणे गुरुणो ।  
जिण-पणत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं माए गहियं ॥

शब्दार्थ

जावज्जीवं=जीवन पर्यन्त

जिण-पणत्तं=वीतराग देव का  
प्ररूपित सत्य ही

मह=मेरे

तत्तं=वस्तु है, धर्म है

अरिहंतो=अरिहन्त भगवान्

इअ=यह

देवो=देव हैं

सम्मत्तं=सम्यक्त्व

सुसाहुणो=भ्रेष्ठ साधू

मे=मैंने

गुरुणो=गुरु हैं

गहियं=ग्रहण किया

भावार्थ

राग-द्वेष के जीतनेवाले श्री अरिहंत भगवान् मेरे देव हैं, जीवन पर्यन्त संयम की साधना करने वाले सच्चे साधू मेरे गुरु हैं, श्री जितेश्वरदेव का बनाया हुआ अहिंसा सत्य आदि ही मेरा धर्म है—यह देव, गुरु, धर्म पर भ्रष्टा स्वल्प सम्यक्त्व व्रत मैंने जावज्जीवन के लिए ग्रहण किया ।

विवेचन

यह सूत्र 'सम्यक्त्व सूत्र' कहा जाता है । सम्यक्त्व, जैनत्व की

यह प्रथम भूमिका है, जहाँ से भग्य प्राणी का जीवन चक्रान चक्रकार से निकल कर ज्ञान-संसार की ओर चमसर होता है। याने चक्र

क्रियाएँ, केवल प्रज्ञान कह ही मानी जाती हैं, धर्म नहीं। प्रकृति के संसारभ्रम का घेरा बड़ाती ही हैं, घटाती नहीं।

सच्चा भावकर और सच्चा साधुत्व पाने के लिए सबसे पहली कड़ी सम्पत्त्य-प्राप्ति की है। सम्पत्त्य के बिना होने वाला व्यावहारिक चारित्र्य, चाहे वह योका है या बहुल, वस्तुतः कुछ है ही नहीं। बिना चक्र के यात्राओं, करोड़ों, अर्बों विम्वित्तों केवल शून्य कहलाती है, यदि ये सम्मिश्रित नहीं हो सकतीं। हाँ, चक्र का साधन पाकर शून्य का मूल्य एक गुणा हो जाता है। इसी प्रकार सम्पत्त्य प्राप्त करने के बाद व्यावहारिक चारित्र्य भी निरन्तर में परिवर्तित होकर पूर्णतया उद्भूत हो उठता है।

चारित्र्य का पद तो बहुत दूर है, सम्मत्त्वके अभाव में ही मनुष्य ज्ञानी होने का पद भी नहीं प्राप्त कर सकता । ऐसा प्रयत्न उसके विरुद्ध अशक्य है। भले ॥ मनुष्य भ्यास वा द्युतय आदि शास्त्र के गंभीर रहस्य ज्ञान से, विज्ञान के क्षेत्र में हजारों गवीन आविष्कारों की सृष्टि कर सके, धर्म शास्त्रों के गहन से गहन विषयों पर भावभरी विम्वर्षिणी भी लिख सके, परन्तु सम्मत्त्व के बिना वह मात्र विद्वान् ॥ सुकृता है, ज्ञानी नहीं । विज्ञान और ज्ञानी दोनों के दृष्टिकोण में बड़ा भारी अन्तर है। विज्ञान का दृष्टिकोण संसारविमुख होता है जब कि ज्ञानी का दृष्टिकोण आत्मविमुख । पञ्चतन्त्रिष्यादयि विज्ञान, अपने ज्ञान का उपयोग कदापि के पौरुष में करता है, और सम्मत्त्वयि ज्ञानी, कदापि के पौरुष में । वह कदापि का-मत्त्व की लूटा का विमर्श दृष्टिकोण बिना सम्मत्त्व के कदापि प्राप्त नहीं हो सकता । अतएव भगवान् महोदय ने अपने वाचस्पती नाम्ने अन्तिम धर्म प्रवचन में स्पष्ट रूप से कहा

है कि—‘सम्पत्त्य-हीन को ज्ञान नहीं होता, ज्ञानहीन को चारित्र्य नहीं होता, चारित्र्यहीन को मोक्ष नहीं होता, और मोक्षहीन को निर्वाण-पद नहीं मिल सकता।’

नादेरिस्त नारं

नायेर विरा न हुंति चरत्-गुरा ।

अगुरिस्त नथि नोस्तो,

नथि अमोक्तस्त निवारं ॥

सम्पत्त्य की महत्ता का वर्णन काफ़ी लम्बा हो चुका है। अब प्रश्न यह है कि यह सम्पत्त्य है क्या चीज़ ? उक्त प्रश्न के उत्तर में कहना है कि—संसार में जितनी भी आत्माएँ हैं, वे सब तीन अवस्थाओं में विभक्त हैं—(१) अहिरान्ना, (२) अन्तरान्ना और (३) परमान्ना।

पहली अवस्था में आत्मा का वास्तविक शुद्ध स्वरूप, मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के आवरण से सर्वथा आवृष्ट रहता है। अतः आत्मा निरंतर मिथ्या संकल्पों में फँस कर, पौद्गलिक भोग विलासों की ही अपना आदर्श मान लेता है, उनकी प्राप्ति के लिए ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति का व्यय करता है। यह सत्य संकल्पों की ओर कभी झुक कर भी नहीं देखता। जिस प्रकार ज्वर के रोगी को अच्छा से अच्छा प्य भोजन अच्छा नहीं लगता; इसके विपरीत कुप्य भोजन ही अच्छा लगता है; ठीक उसी प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से जीव का सत्य धर्म के प्रति द्वेष तथा असत्य धर्म के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। यह अहिरान्ना का स्वरूप है।

दूसरी अवस्था में, मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का आवरण धिक्-भिक् हो जाने के कारण, आत्मा; सम्पत्त्य के आलोक से आलोकित हो उठता है। यहां आकर आत्मा सत्यधर्म का साक्षात्कार कर लेता है, पौद्गलिक भोगविलासों की ओर से उदासीन सा होता हुआ शुद्ध आत्मस्वरूप की ओर मुक्त हो लगता है। आत्मा और परमान्ना में एकता साधने का भाव जागृत करता है। इसके अनंतर ज्यों-ज्यों चारित्र्य मोहनीय

कर्म का आवरण क्रमशः सिथिल सिथिलतर, पूर्व सिथिलतम होता जाता है, त्यों-त्यों आत्मा बाह्य भावों से सिमिट कर अंतरंग में बँसित होता जाता है और विक्रमानुसार इंद्रियों का जय करता है, स्वयं प्रत्याख्यान करता है, धातुकम्ब पूर्व साधुत्व के पद पर पहुँच जाता है। यह अन्तरात्माका स्वरूप है।

तीसरी अवस्था में आत्मा अपने आध्यात्मिक गुणों का विकास करते-करते अंत में अपने विद्युत् आत्म-स्वरूप को पा लेता है, अन्तरी प्रवाह से निरंतर चले जाने वाले ज्ञानावरण आदि सप्त कर्म आवरणों का जादू सर्वथा भुट कर देता है, और अंत में केवल ज्ञान तथा केवल दर्शन की ज्योति के पूर्ण प्रकाश से जगमाग्न उठता है। यह परमात्मा का स्वरूप है।

पहला, दूसरा और तीसरा गुण स्थान बहिरात्म-अवस्था का चित्रण है। चौथे से बारहवें तक के गुणस्थान अन्तरात्म अवस्था के परिचायक हैं। और तेरहवें, चौदहवें गुण स्थान परमात्म-अवस्था का सूचक है। हर एक साधक बहिरात्म-भाव की अवस्था से निकल कर, अन्तरात्मा की आदि भूमिका सम्पन्नता पर आता है एवं सारे प्रथम यही पर माप की वास्तविक ज्योति के दर्शन करता है। यह सम्पन्नता नामक गुण स्थान की भूमिका है। यहाँ से आगे बढ़कर चौदहवें गुणस्थान में धातुकम्ब के तथा पंद्रहवें गुणस्थान में साधुत्व के पद पर पहुँच जाता है। बारहवें से लेकर बारहवें तक साध्य के गुणस्थान साधुता के विकास की भूमिका रूप हैं। बारहवें गुणस्थान में सर्व प्रथम मोक्षनीय कर्म भुट होता है। और ज्योती मोक्षनीय कर्म का नाश होता है त्यों ही तत्पश्चात् ज्ञानावरण, दर्शनावरणीय, अन्तरात्म कर्म का नाश हो जाता है और साधक तेरहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है। १३ वें गुणस्थान का स्वामी पूर्ण अन्तरात्म दशा पर पहुँचा हुआ जीवनमुक्त 'जिन' हो जाता है। तेरहवें गुणस्थान में साधुकर्म, वेदनीय आदि भोगावली कर्मों को भोगता हुआ अतिम समय में चौदहवें गुणस्थान की भूमिका प्राप्त करता है और सदा के लिए धर,

अगर, विवेक कुछ 'मिष्ट' बन जाता है ! मिष्ट पद आत्मा के विकास का अंतिम स्थान है । यहाँ आकर यह पूर्णता प्राप्त होती है, जिसमें फिर न कभी कोई विकास होता है और न हास !

सम्यक्संन्यस का क्या स्वरूप है और वह किस भूमिका पर प्राप्त होता है,— यह ऊपर के विवेचन पर से पूर्णतया स्पष्ट हो चुका है । तत्पश्चात् सम्यक्संन्यस का सीधासादा अर्थ किया जाय तो वह 'विवेक एव' होता है । तब और अन्त्य का विवेक ही जीवन को सम्यग् मार्ग की ओर प्रवृत्त करता है । धर्म शास्त्रों में सम्यक्संन्यस के अनेक भेद प्रतिपादित किए हैं । उनमें मुख्यतया दो भेद अधिक प्रसिद्ध हैं—निश्चय और अनिश्चय । आध्यात्मिक विकास से उत्पन्न आत्मा को एक विशेष परिस्थिति, जो हेतु=जानने योग्य जीवात्मावादि तत्त्व को वास्तविक रूप में जानने की, और हेतु=जानने योग्य हिमा अन्त्य आदि पदों के पान करने की, और उपदेश=प्रत्यक्ष करने योग्य सब विषय आदि को प्रत्यक्ष करने की अनिवार्यता है, यह निश्चय सम्यक्संन्यस है । व्यवहार सम्यक्संन्यस, महाप्रमाण होता है । अतः बुद्धि, बुद्धि और बुद्धि को त्याग कर बुद्धि, बुद्धि, और बुद्धि पर ही महा प्रमाण, व्यवहार सम्यक्संन्यस है । व्यवहार सम्यक्संन्यस, एक प्रकार से विशिष्ट सम्यक्संन्यस का ही परिपूर्ण रूप है । किसी व्यक्तिविशेष ने साधारण व्यक्तियों को अनेक विवेक प्राप्त किया यदि कि विकास देव कर, उनके सम्यक्संन्यस में जो एक स्थाना आत्मज्ञ को वेगवता प्राप्त होकर वे उत्पन्न हो जाता है, उसे महा बुद्धि है । महा में महापुरुषों के महत्त्व को आत्मज्ञ पूर्ण स्वीकृति के साथसाथ उनके प्रति दुष्प्र-दुष्टि को त्याग कर है । अतः तत्पश्चात् निश्चय यह है कि—विशिष्ट सम्यक्संन्यस अन्त्यस्य को प्राप्त है, वह वह मात्र अनुभव-मात्र है । अतः व्यवहार सम्यक्संन्यस को भूमिका महा पर है, अतः वह तत्त्व एव से ही अन्त्यस्य निश्चय है ।

प्राप्त सम्यक्संन्यस बुद्ध के व्यवहार सम्यक्संन्यस को दर्शित किया गया है । यहाँ स्पष्टता यहाँ है कि—किस को देव मानना, किस को दुष्ट

और किस को धर्म ? साधक प्रतिज्ञा करता है कि—अरिहंत मेरे देव है, सच्चे साथ मेरे गुरु हैं, जिन प्ररूपित सत्त्वा धर्म मेरा धर्म है।

### देव अरिहन्त

जैन धर्म में स्वर्गीय भोग विधाती देवों का स्थान कुछ धार्मिक एवं आदरणीय रूप में नहीं माना है। उन की पूजा, भक्ति या सेवा करना, मनुष्य की अपनी मानसिक गुलामी के सिंग और कुछ नहीं। जिनशासन आध्यात्मिक भावना प्रधान धर्म है अतः यहां भद्रा और भक्ति के द्वारा उपास्य देव बही हो सकता है, जो दर्शन, ज्ञान एवं चरित्र के पूर्ण विकास पर पहुँच गया हो, संसार की समस्या मोह माया को त्याग चुका हो, केवल ज्ञान तथा केवल दर्शन के द्वारा भूत, भविष्यत, वर्तमान तीन काल और तीन लोक की प्रत्यक्ष रूप में इत्थामकक वत् जानता देखता हो। जैन धर्म का कहना है कि सत्त्वा अरिहंत देव वही महापुरुष होता है, जो अट्टारह शेषों से सर्वथा रहित होता है। अट्टारह शेष इस प्रकार हैं—

- |                     |                           |
|---------------------|---------------------------|
| १ दानाम्तराय        | २ ज्ञानाम्तराय            |
| ३ भोगाम्तराय        | ४ उपभोगाम्तराय            |
| ५ वीर्यान्तराय      | ६ हास्य=हँसी              |
| ७ रति=प्रीति        | ८ अरति=अप्रीति            |
| ९ तुगुप्त्वा=धृष्टा | १० भय=डर                  |
| ११ काम=विकार        | १२ अज्ञान=मूर्खता         |
| १३ निद्रा=अमाद      | १४ अविरति=त्याग का अभाव   |
| १५ राग              | १५ द्वेष                  |
| १७ शोक=चिन्ता       | १८ मिथ्यात्व=असत्य विरवास |

अन्तराय का अर्थ विघ्न होता है। जब उससे कर्म का उद्भव होता है, तब दान आदि देने से और अभीष्ट वस्तु को प्राप्ति में विघ्न होता है। अपनी इच्छानुसार किसी भी कार्य का संपादन नहीं कर सकता।

परिहृत भगवान् का अन्तराय कर्म घट हो जाता है, फलतः दान, लाभ आदि में विघ्न नहीं होता ।

## गुरु, निर्ग्रन्थ

जैन धर्म में गुरु का महत्त्व त्याग की कसौटी पर ही परखा जाता है । जो सत्पुरुष पाँच महाव्रतों का पालन करता हो, धोटे-बड़े सच जाबों पर ममभाव रखता हो, भिक्षावृत्ति के द्वारा आहार-यात्रा पूर्ण करता हो, पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ स्त्री जाति को छूता तक न हो, रुपया पैसा कुछ भी अपने पास रखता-रखाता न हो, किसी भी मोटर-वेज आदि को संचारी का उपयोग न कर हमें ऐसा पैदल ही विहार करता हो, यही सच्चे गुरुपद का अधिकारी है ।

## धर्म, जीवदया आदि

सच्चा धर्म यही है, जिसके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो, वासनाओं का चर हो, आत्म-गुणों का विकास हो, आत्मा पर से कर्मों का आच्छादन दूर हो और अन्त में आत्मा अजर, अमर पद पाकर सदाकाळ के जिए दुःखों में मुक्ति प्राप्त कर ले । ऐसा धर्म आदिता, सत्य, अस्तेय-चोरी का त्याग, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह-सन्तोष तथा दान, शील, तप और भावना आदि है ।

## सम्यग्दर्श के लक्षण

सम्यक्दर्श अन्तरंग की बात है जब उसका ठीक ठीक पता लगाना भावनाएँ ज्ञानों के जिए जग मुक्ति का है । इस सम्बन्ध में विशिष्ट रूप में केवल ज्ञान ही उक्त कह सकता है । तत्पश्चात् आत्मन में सम्यक्-भावनाएँ व्यापक हो जायेंगी तब ही सत्य-चरित्र के लक्षण हैं, जिससे व्यवहार सब में ही सम्यक् दर्शन की पहचान हो सकती है ।

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. १०. ११. १२. १३. १४. १५. १६. १७. १८. १९. २०. २१. २२. २३. २४. २५. २६. २७. २८. २९. ३०. ३१. ३२. ३३. ३४. ३५. ३६. ३७. ३८. ३९. ४०. ४१. ४२. ४३. ४४. ४५. ४६. ४७. ४८. ४९. ५०. ५१. ५२. ५३. ५४. ५५. ५६. ५७. ५८. ५९. ६०. ६१. ६२. ६३. ६४. ६५. ६६. ६७. ६८. ६९. ७०. ७१. ७२. ७३. ७४. ७५. ७६. ७७. ७८. ७९. ८०. ८१. ८२. ८३. ८४. ८५. ८६. ८७. ८८. ८९. ९०. ९१. ९२. ९३. ९४. ९५. ९६. ९७. ९८. ९९. १००.

होनेवाले कदाग्रह आदि दोषों का उपशम होना 'प्रशम' है। सम्यग् दृष्टि आत्मा कभी भी दुराग्रही नहीं होता ! वह असत्य को त्यागने और सत्य को स्वीकार करने के लिए हमेशा तैयार रहता है। एक प्रश्न से उसका समस्त जीवन, सत्यमेव और सत्य के लिए ही होता है।

( २ ) सदेग—काय, क्रोध, मान, माया आदि सांसारिक बन्धनों का भय ही 'सदेग' है। सम्यग्-दृष्टि किसी भी प्रकार का भय नहीं करता। वह हमेशा निर्भय एवं निर्द्वन्द्व-रहता है। उत्कृष्ट दृष्टा में पहुँच कर तो जीवन-मरण, हानि-लाभ, स्तुति-निन्दा आदि के भय से भी मुक्त हो जाता है। परन्तु यदि उसे कोई भय है तो वह सांसारिक बन्धनों का भय है। वस्तुतः वह है भी डीक। आत्मा के पथ के बिना सांसारिक बन्धनों से बचकर और कोई चीज नहीं है ! जो इन से डरता रहेगा, वही अपने को बन्धनों से आजाद बना सकेगा।

( ३ ) निर्वेद—विषय भोगों में आसक्ति का कम होना 'निर्वेद' है। जो मनुष्य भोग-व्याप्तना का गुलाम है, विषय की पूर्ति के लिए भयकर से भयकर आयाचार करने पर भी उतारू हो जाता है; वह सम्यग् दृष्टि किस तरह बन सकती है ? आसक्ति और सम्यग् दर्शन का तो दिन-रात का सा वैर है। जिस साधक के हृदय में संनार के प्रति आसक्ति नहीं है, जो विषय भोगों से कुछ उदासीनता रखता है, वही सम्यग् दर्शन की ज्योति से प्रकाशमान है।

( ४ ) अनुकम्पा—दुःखित प्राणियों के दुःखों को दूर करने की बलवती इच्छा 'अनुकम्पा' है। सम्यग् दृष्टि साधक, संकट में पड़े हुए जीवों को देख कर विकल हो उठता है, उन्हें बचाने के लिए अपने समस्त सामर्थ्य को लेकर उठ खड़ा होता है। वह अपने दुःख से रहता दुःखित नहीं होता, जिनका कि दूसरों के दुःख से दुःखित होता है। जो लोग यह कहते हैं कि 'दुनिया मरे या जीवे, हमें क्या खेना-देना है ? मरते जीव को बचाने में पाप है, धर्म नहीं।' उन्हें सम्यक्त्व के उच्च अनुकम्पा-लक्षण पर लक्ष्य देना चाहिए। अनुकम्पा ही तो



नम्यत्व का परिपाक है। अनम्य बालकः जीवरक्षा तो कर सकता है, परंतु अनुकम्पा कभी नहीं कर सकता।

(५) आतिथ्य—आत्मा आदि परोक्ष किन्तु आगम प्रमाण सिद्ध पदार्थों का स्वीकार ही आतिथ्य है। साधक आतिथ्यकार साधक ही है, सिद्ध नहीं। अतः वह कितना ही क्यों न प्रयत्न-बुद्धि हो, परन्तु आत्मा आदि अरूपों पदार्थों को वह कभी भी प्रत्यक्षतः इन्द्रियमार्ग नहीं कर सकता। भगवद्प्राप्ति पर विरासत रखे बिना साधना की यात्रा नहीं हो सकती। अतः मुक्ति पथ में अधिक अग्रसर होते हुए भी साधक को आगमनार्थी से अपना स्नेह सम्बन्ध नहीं तोड़ना चाहिए।

### निष्पत्त्य-परिहार

सम्यक्त्व का विरोधी तत्त्व निष्पत्त्य है। सम्यक्त्व और निष्पत्त्य दोनों का एक स्थान पर होना असंभव है। अतः सम्यक्त्व धारी साधक का कर्तव्य है कि वह निष्पत्त्य भावनाओं से सर्वदा सावधान रहे। कहीं ऐसा न हो कि आतिथ्य निष्पत्त्य की धारणाओं पर चलकर अपने सम्यक्त्व को नखिन कर बैठे। संवेद में निष्पत्त्य के दश भेद हैं, इन्हें इन्त्या ध्यान में रखना चाहिए।

(१) जिनको कंचन और कामिनी नहीं तुना सदती, जिनको प्रंसारिक लोगों की प्रशंसा निन्दा आदि शुब्ध नहीं कर सकती, ऐसे सदाचारी साधुओं को साधू न समझना।

(२) जो कंचन और कामिनी के दास बने हुए हैं, जिनको सत्सारिक लोगों से पूजा प्रतिष्ठा पाने की दिन रात इच्छा बनी रहती है, ऐसे साधु-वेद्य-धारियों को साधू न समझना।

(३) घना, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आर्कषण्य और ब्रह्मचर्य-ये दश प्रकार का धर्म है। दुराग्रह के कारण वस्तु धर्म को अधर्म समझना।

(४) जिन कर्मों से अथवा विचारों से आत्मा को अधोगति होती

है, वह अधर्म है। अस्तु, हिंसा करना, शराब पीना, नुमा खेजना, दूसरों की पुराई सोचना इत्यादि अधर्म को धर्म समझना।

(४) शरीर, इन्द्रिय और मन-ये जड़ हैं। इनको आत्मा समझना, अर्थात् अजीव को जीव मानना।

(५) जीव को अजीव मानना। जैसे कि—माय, बेछ, बकरी चाली प्राणियों में आत्मा नहीं है, अतएव इनके मारने या खाने में कोई पाप नहीं है—ऐसी मान्यता रखना।

(७) उन्मार्ग को सुमार्ग समझना। शीतला पूजन, गंगास्नान, बाढ़ आदि जो पुरानी या नई कुरीतियाँ हैं, जिनसे मनुष्य हानि होती है, उन्हें डीक समझना।

(८) सुमार्ग को उन्मार्ग समझना। जिन पुरानी या नयी प्रथाओं से धर्म की वृद्धि होती है, सामाजिक उन्नति होती है, उन्हें डीक समझना।

(९) कर्म रहित को कर्म सहित मानना। परमात्मा में राग द्वेष नहीं है, तथापि वह मानना कि भगवान् अपने भक्तों की रक्षा के लिए रागों का नाश करते हैं और अमुक स्थितियों की उपस्था से प्रसन्न होकर उनके पति बनते हैं, इत्यादि।

(१०) कर्म सहित को कर्म रहित मानना। भक्तों की रक्षा और शत्रुओं का नाश राग द्वेष के बिना नहीं हो सकता, और राग द्वेष कर्म सम्बंध के बिना नहीं हो सकते, तथापि मिथ्या आग्रह-वश भी मानना कि यह सब भगवान् की जीक्षा है। सब कुछ करते हुए भी अलिप्त रहना उन्हें आता है और इसलिए वे अलिप्त रहते हैं।

### सम्यक्त्व सूत्र का प्रतिदिन पाठ क्यों

अंत में एक प्रश्न है कि—जब साधक अपनी साधना के प्रारम्भिक काल में सर्व प्रथम एक बार सम्यक्त्व ग्रहण कर ही लेता है और उप-रान् ही अन्य धर्म छिटाई शुरू करता है, तब फिर उसका निश्चय प्रति पाठ क्यों? क्या प्रतिदिन निश्चय नई सम्यक्त्व ग्रहण करनी चाहिये?

उत्तर है कि सम्यक्स्य तो एक बार प्रारम्भ में ही ग्रहण की जाती है, रोजाना नहीं परंतु प्रत्येक सामायिक आदि धर्म-क्रिया के आरंभ में; रोजाना जो यह पाठ बोला जाता है, इसका प्रयोजन सिर्फ यह है कि—ग्रहण की हुई सम्यक्स्य की स्मृति को सदा याजा रखा जाय । प्रतिदिन प्रतिज्ञा को दोहराते रहने से आत्मा में बल का संचार होता है, और प्रतिज्ञा नित्य प्रति अधिकाधिक स्पष्ट, शुद्ध एवं सफल होती जाती है ।

: ३ :

## गुरु गुण स्मरण सूत्र

( १ )

पंचिदिय-सवरणो,  
तह नवविह-बभचेर-गुप्तिधरो ।  
चउविह-कसाय-मुनको,  
इअ अठ्ठारसगुणेहि सजुत्तो ॥

( २ )

पच-महब्बय-जुत्तो,  
पचविहायार-पालण-समत्थो ।  
पच-समिओ तिगुत्तो,  
सत्तीस-गुणो गुरु मज्झ ॥

शब्दार्थ

पंचिदिय-सवरणो=पांच इन्द्रियों को चर्याय पांच इन्द्रियों के विषय को रोकनेवाले, वश में करनेवाले ।

तह=तथा इसी प्रकार

नवविहबभ चेर गुप्तिधरो=नव प्रकार की व्यक्तियों की गुप्तियों को धारण करनेवाले



: ३ :

गुरु गुण स्मरणं यत्

( १ )

पचिदिय-सवरणो,

तह नरविह-यन्त्र-चेर-गुतिषरो ।

चउविह-कमाय-मुक्को,

इअ अट्टारसगुणेहि सजुत्तो ॥

( २ )

पध-महव्यय-जुत्तो,

पधविहायार-पालण-समत्थो ।

पध-समिओ निगुत्तो,

छत्तीम-गुणो गुरु मज्झ ॥

शब्दार्थ

पचिदिय-सवरणो=पांच इन्द्रियों को अर्थात् पांच इन्द्रियों के विषयों  
को रोकनेवाले, यश में करनेवाले ।

तह=तथा इसी प्रकार

नरविहयन्त्र चेर गुतिषरो=नर प्रकार की यन्त्रचरों की गुतिषों को  
धारण करनेवाले

चत्वारिंशत्पञ्चकोटौ=चार प्रकार के कणों से युक्त

इन्द्र=इन्द्र

अष्टादशगुरोः संयुक्तौ=अष्टादश गुरों से संयुक्त

चैव नवगुरोः=पाँच नवा यों से युक्त

चैव विंशतिगुरोः=पाँच प्रकार का आचार पाठने में सन्धि

चैव त्रयोविंशतिगुरोः=पाँच त्रयोविंशति

विंशतिगुरोः=पाँच विंशति

तुल्यगुरोः=तुल्य गुरोंवाले कणों से युक्त

नवगुरोः=नव

गुरु=गुरु है

### भाष्य

यस्य इन्द्रो के वैदिक कालों को गणनेवाले, नवचरं मंड को नवचरं गुरों के—नौ गुरों को धारण करनेवाले, अष्टादश गुरों से संयुक्त और चैव नवगुरोः से युक्त, इन नवचरं अष्टादश गुरों से संयुक्त ।

—अष्टादश गुरों से युक्त, चैव चत्वारिंशत्पञ्चकोटौ से युक्त करने में सन्धि, चैव त्रयोविंशतिगुरोः से युक्त करनेवाले, चैव विंशतिगुरोः से युक्त करनेवाले, चैव तुल्यगुरोः से युक्त करनेवाले, चैव नवगुरोः से युक्त करनेवाले, चैव गुरु=गुरु है ।

### विवेचन

ननु गुरु का महत्त्व एवं अत्यन्त महत्त्व, जो अत्यन्त एक ही चैतन्य के बाल बालिष्ठ में कहीं भी मिल नहीं होगा, क्या हर किन्हीं के बालों में युक्त पावे ? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता । ननु गुरु का महत्त्व विचारों का सर्वभेद केन्द्र है । यह सत्य, स्वयं और मोक्ष दोनों दुनिया का सत्य है । अत्यन्त में वे जो कुछ भी ईश्वर विष्णु का सत्य है, सब उनका ही अन्तर्गत है । अष्टादश यदि वह भी करने वाले विचार गुरु केवल हर किन्हीं के बालों को युक्त सत्य करने वाले ही सन्धि

बनकर मनुष्य का और क्या पतन हो सकता है ?

शास्त्रकारों ने गुरुदेव की महिमा का मुक्त-कंठ से गुणगान किया है। उनका कहना है कि प्रत्येक साधक को गुरु के प्रति असीम भक्ति और भक्ति का भाव रखना चाहिए। भक्तों को मनुष्य प्रत्यक्ष मित्र महान उपकार करनेवाले एवं माया के दुर्गम पथ से पार कर संघम पथ पर पहुँचानेवाले अपने आराध्य सद्गुरु का ही भक्त नहीं है, वह परोक्ष-मित्र भगवान का भक्त कैसे हो सकेगा ? साधक पर गुरुदेव का इतना विभाव था कि उसका कभी बदला चुकाया ही नहीं जा सकता। संक्षेप में गुरु की महत्ता अपरम्पार है; अतः प्रत्येक धर्म-साधना के आरम्भ में गुरुदेव को धरती भक्ति के साथ अभिप्रेम्ण करना चाहिए। परन्तु धर्म है, कौन-सा गुरु ? किसके कर्णों में नमस्कार ?

आज समाज में, विशेष कर भारत में, गुरु-रूप-धारी द्विपद पदार्थों की कोई साधारण-सी सीमित संख्या नहीं है। विधर-दक्षिण उधर ही गल्ला-गुल्ली में सैकड़ों गुरु नामधारी महापुरुष घूम रहे हैं, जो भोके-बाजे भजनों की आवाज में फसले हैं, भद्र महिमाओं के उच्चत जीवन को आहूत होने के बहम में नष्ट करने हैं। जहाँ तक हमारे कर्णों की शीघ्र रूप से गन्ना जाय, भारत के पतन का यदि कोई मुख्य कारण है तो वह गुरु ही है। भक्तों को दिन-रात भोगविज्ञास में डूबे रहते हैं, जलने के रूप में बर्बाद-बर्बाद होते जाते हैं, राजाओं की-सा डाट-बाट समाप्त प्राप्ति-वर्ष काश्मीर एवं मैत्रीताय आदि की मीर करने हैं, मान-मन्त्रीदा करते हैं, इतर-मुझे सबान है, नारक-धियेमा देखने हैं, गात्रा, भंग, गुरुता आदि मादक पदार्थों का सेवन करने हैं, और मोटरों पर चढ़े होते हैं, उन गुरुओं में देख कर क्या भक्त हो सकता है ? जो स्वयं चंचल हो, वह दूसरों को क्या नाक मार्ग दिखाएगा ? अतएव मनुष्य सूत्र में बतलाया है कि—सच्चे गुरु कौन हैं ? किनको सम्मन करना चाहिए ? प्रत्येक साधक को इस प्रश्न होना चाहिए कि—'वह' मूर्खों व ठीक-गुप्तों के धर्ती महत्माओं को ही अपना धर्म-गुरु मानेगा, अन्य संशय



ये नहीं।' गुरु-बन्धन से पहले उक्त प्रतिज्ञा का संस्मरण करना एवं गुरु के-गुणों का संकल्प करना अत्यावश्यक है; अतएव इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह सूत्रपाठ, सामान्यिक करते समय बन्धन से पहले पढ़ा जाता है।

## पाँच इन्द्रियों का दमन

जोबाला को संसार सागर में डुबाने वालों पाँच इन्द्रियों हैं—  
 पाँच इन्द्रिय=दृष्टि, रसन इन्द्रिय=उद्वा, प्राण इन्द्रिय=वाक, बुद्धि इन्द्रिय=बोद्ध और भाव इन्द्रिय=जन। पाँचों इन्द्रियों के मुख्य विषय ज्ञान इत प्रकार हैं—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द। साथ ही कहा है कि वह उक्त विषयों पर यदि धिय हो तो राग न करे, यदि द्वेष हो तो द्वेष न करे, प्रभुत्व समनाय से प्रवृत्ति करे।

## नवविध-महत्त्वपूर्ण

पाँच इन्द्रियों की संयोजिता संकटने से महत्त्वपूर्ण मन्त्र का पाठन करने काय हो जाता है। तथापि महत्त्वपूर्ण मन्त्र को अधिक दृष्टि के साथ स्वीकृत पाठन करने के लिए शास्त्र में नव गुणियों बतलाई हैं। नव गुणियों की साधारण भवना में बाह्य भी कहते हैं। जिन प्रकार बाह्य मन्त्र रही हुई प्रभु का स्तवण कायों है, उतनी प्रकार नव गुणियों भी महत्त्वपूर्ण मन्त्र का स्तवण कायों है।

(१) निवेदन-मन्त्र—एकान्त स्थावने निधान करा। स्थान, पुरु, और बुद्धिक तंत्रों की संयोजिता अत्यन्त ही है, अतः महत्त्वपूर्ण मन्त्र के लिए उक्त तंत्रों से शक्ति एकान्त स्थावने निधान करना चाहिये।

(२) तन्त्र-मन्त्र—स्थानों की कथा का प्रतिपादन करा। कथा से नजदब नही स्थानों की जाति, बुद्धि, रूप और वेद-मन्त्रों की शक्ति से है। जिन प्रकार नीचे के वर्णन में विद्या में से ज्ञान

नद निकलता है, उसी प्रकार स्त्री-क्या से भी हृदय में वायना का धरना बढ़ निकलता है।

(१) निगानुपवेशन—निषया वाली स्त्री के बैठने की जगह, उस पर नहीं बैठना। शास्त्र में कहा है कि—त्रिय स्थान पर श्री बैठी हो, उसके उठ जाने के बाद भी दो घड़ी तक मझवारी को वहाँ नहीं बैठा जायिष्। कारण कि—श्री के शरीर के संयोग से वहाँ उत्पन्न हो जायै है, वायना का वायुमण्डल तैयार हो जाता है, अतः बैठने वाले के मन में निद्रावस्था आदि दोष पैदा हो सकते हैं। आज कल के वैज्ञानिक आ विद्युत के नाम से उक्त परिस्थिति को स्वीकार करते हैं।

(२)—ईन्द्रियाग्रयोग—श्री के चोतीपात्र मुख, नेत्र, हाथ, पैर आदि की ओर देखने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। यदि प्रसंग यह कदाचिन् दृष्टि पड़ भी जाय तो शीघ्र ही दृष्टा छोटी चाहिये। सौर्य के दृश्यन से मन में मोहनी जागृत होगी, कामवासना उठेगी, और अन्त में मझवर्ष मन के संग की धाराका भी उत्पन्न हो जायगी। त्रिष प्रकार मूर्ध की ओर देखने से आँखों का नेत्र घटता है, उन्ही प्रकार श्री के चोती पात्रों की देखने से मझवर्ष का बल निर्वल हो जाता है।

(३) ईश्वरानुपवेशन—एक दीवार के चमत्तर से श्री पुन रहन हो तो वहाँ नहीं रहना। हृदय का अर्ध दीवार है, चमत्तर का अर्ध दूर से है, और शरीर का अर्ध स्त्री-गुरुन मुक्त है। पास रहने से अज्ञान आदि के वचन सुनने से काम जागृत हो सकता है। अर्ध १ पास रहा हुआ माय विषय ही जाता है।

(४) ईश्वरानुपवेशन—वह श्री काम श्रीवाचों का स्मरण न करना मझवर्ष आरव करने के पहले जो वायना का जीवन रहा है, त्रिषों के साथ सामाजिक सम्बन्ध कायम रहा है, उसको नहीं हो जाने के बाद बना भी अपने व्यवसाय में नहीं जाना चाहिये। वायना का चेतन बल अन्त है। मृत वायनार्थ भी जरा भी स्मृति या जाने पर पुनः जीव हो उठती है और वायना को अच्छ-अच्छ कर हाथती है। मारक वस्तु

का नया सृष्टि के द्वारा जागृत होता हुआ सर्व साधारण में प्रसिद्ध है।

(३) प्रोक्ताभोजन—प्रोक्ता का अर्थ अति स्निग्ध है, अतः प्रोक्ता भोजन का अर्थ हुआ कि जो भोजन अति स्निग्ध हो, कानोत्तेजक हो, वह मलबारी को नहीं खाना चाहिए। पौष्टिक भोजन में शरीर में जो कुछ विषय-वासना की विह्वलियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें हर कोई स्वाभु-भर से जान सकता है। जिस प्रकार मज्जिरात्र का रोग घों खाने से भयंकर रूप धारण कर लेता है, उन्ही प्रकार विषय-वासना भी घों आदि पौष्टिक पदार्थों के अन्यायित भोजन में बढ़क उठती है।

(४) प्रोक्ताभोजन—प्रोक्ता से अधिक भोजन नहीं करना। भोजन का संयम, मलबर्षों की रक्षा के लिए समयावश्यक है। भूख से अधिक भोजन करने से शरीर में अतिस्य पैदा होता है, मन में चंच-लता होती है, और अन्त में इन सब बातों का अन्तर मलबर्ष पर पड़ता है।

(५) विनूय शरीरजन—विभूषा का अर्थ अलंकार एवं भूषण होता है, और शरीरजन का अर्थ त्याग होता है, अतः मनुष्य अर्थ 'भूषण का त्याग करना' हुआ। स्नान करना, इतर-कुजेड लगाना, भद्रकहार बढ़िया पकवत बनाना, इत्यादि कार्यों से घरेलू मनमें भी लौन्दर्य को भरना जागृत होती है और देखने वालों के मन में भी मोह का उद्देक हो जाता है। कुम्हार को लाल लून मिठा, साफ करके दुप्पर पर रख दिया। सूर्य के प्रकाश में उसे ही घनका, मान मनका का चोख उठाकर ले गई। भूषण-देवी मनु के मलबर्षों का भी यही हाज होता है।

### चार कषाय का त्याग

कर्म कथ का मुख्य कारण बताया है। कषाय का सांकेतिक अर्थ होता है—'कर्म=मनः x कषाय=जान'। अतः जिसने मनः का त्याग हो, जन्म-मरण का चक्र चला हो, वह कषाय है। मुख्य रूप से कषाय के चार प्रकार हैं—



(४) सर्व परिग्रह विमर्श—सब प्रकार के परिग्रह (धन-धान्य आदि) का त्याग करना, संन्यस्य महाजन्य है। अधिक जो भी कौड़ी काश भी अपने पास में रक्खा, व दूसरों के पास रक्खावा भीत में रखने वालों का अनुमोदन करना। संन्यस की आश्रमा के उपवास में चाहे चाहे सर्वस्व करके-नाश आदि पर भी दृष्ट्याभाव में रक्खा।

पाँचों ही महाजन्यों में भय, वचन और शरीर तथा करना कराना और अनुमोदन करना—सब मिल कर भय, कौटि में, कर्मणा, विद्या आदि का त्याग किया जाता है। महाजन्य का कार्य है—महाद-भय। महाजन्यो लागू हो हो सकता है। गृहस्थ-भय में सर्व के स्थान पर स्थूल रूप का प्रयोग किया जाता है। इसका यह कार्य है कि गृहस्थ सर्वोदित रूप में स्थूल विद्या, स्थूल कर्मत्व आदि का त्याग करता है। यका गृहस्थ के वे पाँच कर्तव्य कहलाते हैं—भय का कार्य होया होता है।

### पाँच आचार

(१) शयन-धन—शयन स्वयं करना और दूसरों को यथा, हाथ के आश्रय हाथ आदि स्वयं निकाला तथा शयन भवती को तथा करना, एवं हाथ आश्रय करके बाह्य को तथा योग्य महाजन्य प्रदान करना—यह सब शयनधन है।

(२) दण्ड-धन—दण्डों का कार्य सम्भाल है, यका सम्भाल का स्वयं दाखल करना, दूसरों से दाखल करवाना, तथा सम्भाल से भय होने वाले बाह्यको को दण्ड आदि से सम्भाल का पुन सम्भाल से दाखल करना—यह सब दण्डधन है।

(३) व शयन-धन—कर्मणा करने हुए आश्रय का स्वयं दाखल करना, दूसरों से दाखल करवाना तथा दाखल करके बाह्य को अनुमोदन करना। शयनधन का परिपालन करके महाजन्य का दाखल होने का शयन कर्मधन है।

(४) दण्ड-धन—दण्ड करके सम्भाल होने ही ६६४ का यह

स्वयं करना, दूसरों से कराना, करने वालों का अनुमोदन करना। प सब तपः साधना, तप आचार है। बाह्य तप अन्नशन=उरबाध अर्था है, और अन्तर्य तप स्वाध्याय, ध्यान, विषय आदि है।

(५) वीर्यचार—धर्मानुष्ठान (प्रतिक्रमण, प्रतिबोधन, स्वाध्याय आदि) में अपनी शक्ति का अथवा सर उचित से उचित इष्ट करना। कदापि आसक्त्य आदि के वश धर्मापन में अस्तित्व नहीं रखना। अपनी सामाजिक, धार्मिक तथा शारीरिक शक्ति को दुरुपयोग से हटाकर सदाचार्य में लगाना—वीर्यचार है।

### पांच समिति

समिति का शाब्दिक अर्थ होता है—‘सम्=सम, रूप से + इति=जाना अर्थात् प्रवृत्ति करना।’ अतः अर्थ यह है कि—बोलने में, सोचने में, व्यवहार आदि की गवेषणा में, किसी वस्तु को खेने या रखने में, मनुष्य आदि को परठने में सम्पूर्ण रूप से भर्पादा रखना, अर्थात् गमनादि किसी भी क्रिया में विवेकबुद्ध सीमित प्रवृत्ति करना, समिति है। अतः में समिति के पांच भेद हैं—

(१) ईर्ष्या समिति—ईर्ष्या का अर्थ घमन होता है, अतः किसी भी जीव को पीड़ा न पहुँचे—इस प्रकार सावधानता पूर्वक घमनाघमनादि क्रिया करना, ईर्ष्या समिति है।

(२) भाषा समिति—भाषा का अर्थ बोलना है, अतः सत्य, द्वि-कारी, परिमित तथा सन्देह रहित, सुदु वचन बोलना भाषा समिति है।

(३) पश्या समिति—पश्या का अर्थ खोज करना होता है, अतः जीवन यात्रा के लिए आवश्यक आहारादि साधनों को उठाने की सावधानता पूर्वक निरवध प्रवृत्ति करना पश्या समिति है।

(४) आदाननिक्षेप समिति—आदान का अर्थ प्रदण करना और निक्षेप का अर्थ रखना होता है, अतः अपने पात्र पुस्तक आदि वस्तुओं को भली भाँति देख-भाळ कर, प्रसार्जन करके देना अथवा रखना, आदान निक्षेप समिति है।



## भावार्थ

भगवन् ! दाहिनी ओर से प्रारंभ करके पुनः दाहिनी ओर तक इस की तीन बार प्रदक्षिणा करता हूँ ।

वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, कृतकार करता हूँ, सम्मान करता हूँ ।

आय कल्पयुग रूप है, मंगल रूप है । आय देवता-स्वरूप है, वैश्व-स्वरूप=हानि-स्वरूप है ।

गुरुदेव ! आयकी (मन, पंचन और शरीर से) पशु-पक्षना=वेष्टन करता हूँ । विनय-गुरुक मस्तक झुकाकर आपके चरणकमलों में करना करता हूँ ।

## विवेचन

धार्मिक-साधना के क्षेत्र में गुरु का पद बहुत ऊँचा है । कोई भी दूसरा पद इस की समानता नहीं कर सकता । गुरुदेव हमारी जीवन-नीका के नाविक हैं, अतः वे संसार-समुद्र के काम, कोप, मोह आदि भयंकर आवलों में से हमें सफ़ा-पार पहुँचाते हैं ।

आय जानते हैं—जब घर में अन्धकार होता है, तब क्या रखा होती है ? किन्ती कटियाइयों का सामना करना पड़ता है । जोर और सोक में का, रस्सी और सर्प में का विवेक बह हो जाता है । अन्धकार के कारण इतना विपर्याय होता है कि कुछ पश्चिमी ही नहीं । सन्-धर्म का कुछ विवेक ही नहीं रहता । ऐसी दशा में दीपक का किन्ता महत्व है ? यह सहाय ही समय में आ सकता है । ज्यों ही अन्धकार में दीपक जगमगा उठता है, ज्यों ही शीघ्र प्रकाश फैल जाता है, तो किन्ता जानन्द होता है ? अत्येक वस्तु सीक अपने रूप में दिखाई देने लगती है । सन् और रस्सी, सोक और जोर स्पष्टतया सामने पड़ते हैं । जीवन में प्रकाश की किन्ती आवश्यकता है ?





नगरी के बाहर उद्यान में पधारे हैं तो पुत्र जन्म का महोत्सव  
 चरहरन पाने के कारण होने वाला अपना चक्रवर्ती एवं महोत्सव हो  
 और सब से पहले प्रभु के दर्शन को पहुँचा । इसे कहते हैं—गुरु  
 देवा । यदि गुरुदेव का आगमन सुनकर भी मन में उत्साह जागृत  
 हो, संसारी कामों का मोह न छूटे, तो वह गुरुदेव का अपमान  
 और जहाँ इस प्रकार अपमान है, वहाँ अन्धा कैसी और भक्ति कैसी  
 आज्ञाकार के उन साधकों को इस शब्द पर विशेष खयाल देना चाहिए  
 जो गुरुदेव के यह पूछने पर कि 'भाई व्याख्यान जारी सुनने की  
 बाध, तब कहते हैं कि—'सजी काम समा रहा, न जा सका । और  
 तो तब भी कहते हैं कि 'सजी काम वाम तो कुछ नहीं था, वो  
 आसक्त्य में पड़े रह गए ।' यह अपमान नहीं तो क्या है ।

'कल्याण' का संस्कृतकण कल्याण है । कल्याण का रूप  
 चेम, पुरुष, राजी सुखी होता है, परन्तु हमें जरा गहराई में जान  
 चाहिए ।

अमर कोष के मुद्रमिश्र शीकाकार एवं महा वैपाकरय भोजी शीका  
 के मुपुत्र भी भानुजी दीक्षित कल्याणक अर्थ—वातःस्मरणीय करते  
 'कल्पे प्रातःकाले शयने भयने इति कल्याणम्' अमर कोश १११, १२  
 उक्त संस्कृत मुद्रमिश्र का हिन्दी में यह अर्थ है—वातःकाल में जो सुख  
 होता है, वह वातःस्मरणीय । कल्प x अर्थ देता शब्द विभाग  
 कल्प का अर्थ वात काल है, और अर्थ अर्थ धानु है । वह अर्थ  
 ही सुन्दर है । रात्रि के गहन अन्धकार का नाश होने ही में ही सु  
 हरा प्रभात होता है और अनुपम विद्या से ज्ञान बढ़ता है, तब वह परि  
 माणियों का शुभकाम सर्व प्रथम स्मरण करता है । गुरु देव का क  
 हमके लिए पूर्वकथा उचित है अतः गुरु देव सत्य अर्थ में कल्याण है

कल्याण का एक और अर्थ साचार्य हेमचन्द्र करते हैं । उनका  
 भी सुन्दर है । 'कल्प नोदक्यमणनीति' अमि० १ । ८६ । कल्प  
 अर्थ है बीरोमलान्स्वस्थता, जो मनुष्य को बीरोमल प्रदान करता





साम्प्रदायिक विवाद है। कुछ विद्वान् चैत्य का अर्थ ज्ञान करते हैं, इस परम्परा के अनुयायी स्थानकरवत्तो हैं। दूसरे विद्वान् चैत्य का अर्थ प्रतिमा करते हैं, इस परम्परा के अनुयायी श्वेतम्बर मूर्ति-पूजक हैं। चैत्य शब्द अनेकायक है, अतः प्रसंगानुसार ही इसका अर्थ ग्रहण किया जाता है। विचारना है कि जहाँ प्रस्तुत प्रसंग में कौन-सा अर्थ अभिप्रेत है।

चैत्य का ज्ञान अर्थ करने में तो कोई विवाद ही नहीं है। ज्ञान-प्रकटा का वाचक है, अतः गुरुदेव को ज्ञान कथना, प्रकटा शब्द से सम्बोधित करना सर्वथा औचित्यपूर्ण है। चित्तो मंजलि धातु से चैत्य शब्द बनता है, जिसका अर्थ ज्ञान है।

चैत्य का दूसरा अर्थ प्रतिमा भी यहाँ प्रयुक्त हो है, प्रयोजित नहीं। मूर्तिपूजक विद्वान् भी यहाँ चैत्य का अभिधेय अर्थ मूर्ति न करके, ब्रह्मा द्वारा मूर्ति-सार पुरुषार्थ अर्थ करते हैं। जिस प्रकार किसी मूर्ति-पूजक पन्थ के अनुयायी को करने इष्टदेव की प्रतिमा आदरसंग एवं सत्करसंग होती है, उसी प्रकार गुरुदेव भी सत्करसंग हैं। यह उगना ही उगना लौकिक पदार्थों की भी हो जा सकती है, इनमें किसी सम्प्रदाय विशेष का अभिन्नत नित्य एवं अनित्य नहीं हो जाता। स्थानकरवत्तो यदि यह अर्थ स्वीकार करें तो कोई आशङ्क नहीं है। क्या हम मंजलि में लोगों को करने करने इष्ट देव-प्रतिमाओं का आदर सत्कार करते नहीं देखते हैं ? क्या उगना देव ने भी कुछ देखा है ? यहाँ योगेश्वर की प्रतिमा के सार तो वही कहा है और न श्वेतम्बर मूर्तिपूजक आचार्यों ने ही यह माना है। देखिये अमरदेवमूर्ति मण्डली मृत् की टोका में क्या लिखते हैं ? — चैत्य मण्डली — चैत्यमूर्ति — चैत्य मण्डली — मण० २ श० १८० यह मण्डली का स्थल अमरदेव महाशय में मन्मथ रखता है। जब सत्कार मण्डली को बन्दना करने समय उनको उठकों ही मूर्ति के सार जाना कहीं उचित है। अन्तु लोक प्रयुक्त उगना देवा ही यहाँ अभिप्रेत है।



: ५ :

## आलोचना सूत्र

इच्छाकारेण संदिनह भगवं !

इरियावहियं पडिक्कनामि ?

इच्छं । इच्छानि पडिक्कनिउं ॥१॥

इरियावहियाए, विराहणाए ॥२॥

गमणागमणे ॥३॥

पाणक्कमणे, बीयक्कमणे, हरियक्कमणे,

ओत्ता.उत्तिग-पणग-दग-मट्टी-मक्कडासंताणा-संक्रमणे ॥४॥

जे ने जीवा विराहिया ॥५॥

एणिदिया, वेदंदिपा, तेइदिया, चउरिदिया. पचिदिया ॥६॥

अभिहया. वत्तिया, लेत्तिया, मंपाइया,

संधट्टिया, पण्णियाविया, किलानिया, उद्विया,

ठाणाओ ठाप न्जानिया, जीवियाओ ववरोविया,

तत्त निच्छा मि दुक्खड ॥७॥

शब्दार्थ

भगवं=भगवन् !

संदिनह=सदा दीवि

इच्छाकारेण=इच्छापूर्वक

[ काठि ]









का निरोध किया है, वह दुर्भावना से उठाने का निरोध है। किन्तु दया की दृष्टि ने किन्नी पंडित जी को, यदि धृष्ट से जाना में अथवा दया से धृष्ट में उठाना हो, किया मुरखित स्थान में पहुँचाना हो तो वह हिंसा नहीं, प्रत्युत अहिंसा एवं दया ही होगी है।

प्रस्तुत सूत्र में ऐतिहासिक और संवर्द्धित पाठ आता है। ऐतिहासिक का अर्थ जीवों की भूमि पर मननरूप और संवर्द्धित का अर्थ जीवों को स्पर्श करना है। इस पर प्रश्न है कि उस राजाद्वय से कौनो छादि छोटे जीवों को पूँजे है, उस क्या वे भूमि पर पड़ते नहीं जाते और स्पर्श नहीं किए जाते? राजाद्वय के इतने बड़े भार को वे मृन्मय जीव पियारे किन प्रकार सहन कर सकते हैं? क्या यह हिंसा नहीं है? उत्तर में कहना है कि हिंसा अस्पर्श होता है। परन्तु यह हिंसा, यही हिंसा को निरुक्ति के लिए आश्रय है। अनेक मार्ग से जाते हुए छोटी छादि जीवों को स्पर्श हो पूँजना, रोकना, स्पर्श करना जैन धर्म में निषिद्ध है। परन्तु कहीं आश्रयक कारण से जाना हो, और वहाँ बाँच में जीव हों, उनको और किसी तरह बचाना असम्भव हो, तब उनको प्रत्यक्ष स्पर्श के लिए, यही हिंसा से बचने के लिए पूँजने के रूप में थोड़ा सा कष्ट पहुँचाना पड़ता है। और यह कष्ट या हिंसा, हिंसा नहीं, एक प्रकार से अहिंसा ही है। दया को भावना से जो जाने यात्री मृन्मय हिंसा को प्रवृत्ति भी निर्जरा का कारण है। क्योंकि हमारा विचार दया का है, हिंसा का नहीं। अतएव शास्त्रकारों ने प्रमादवत् क्रिया में संशय और निर्जरा का उल्लेख किया है, उस कि प्रमादवत् में मृन्मय हिंसा अस्पर्श होता है। अतः आनन्द ने कहा है कि हिंसा के होते हुए भी निर्जरा हुई या नहीं? तब पंथी मन्मात्र को उक्त विद्वत् पर उदात्त संशय से विचार करना चाहिये। आनन्द मूल्य बहुत बड़ा है।

आलोचना के रूप में प्रेक्षक धर्माचार को शुद्धि के लिए केवल हिंसा को ही आलोचना का उल्लेख क्यों? मन्मात्र पाठ में केवल हिंसा को ही आलोचना है, अस्पर्श आदि दोषों को क्यों नहीं? तब शुद्धि के लिए

तो सभी पापों को आलोचना आवश्यक है न ? उक्त प्रश्नों का सम्-  
धान यह है कि-संसार में जितने भी पाप हैं, उन सब में हिंसा ही मुख्य  
है। अतः 'सर्वे पदा इस्तिपदे निमग्नाः'—इस न्याय के अनुसार सब के  
सब असत्य आदि दोष हिंसा में ही भन्त भूँट हो जाते हैं। का  
हिंसा के पाप में दोष सभी क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, ईर्ष्या  
आदि पापों का समावेश हो जाता है। किस प्रकार समावेश होता  
इसके लिए जरा विचार प्रेर में उत्तरिए। हिंसा के दो भेद हैं-स्वहिंसा  
और परहिंसा। स्वहिंसा अपनी अपनी आत्म-गुणों की हिंसा  
और पर हिंसा वाली दूसरे की, दूसरेके गुणों की हिंसा। किसी जीव  
पीड़ा पहुँचाने से प्रत्यक्ष में उस जीव की हिंसा होती है। और जो  
पापें समय उस जीव को राग द्वेष आदि की परिस्थिति होने से उस  
आत्मगुणों की भी हिंसा होती है। और इधर हिंसा करने वाला क्रोध,  
मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि किसी न किसी प्रमाद के बश  
होकर ही हिंसा करता है; अतः यह आध्यात्मिक दृष्टि से नैतिक पक्ष  
रूप अपनी भी हिंसा करता है एवं अपने मत्स्य, शीघ्र, तद्वत्ता आदि  
आत्मगुणों की भी हिंसा करता है। अतः स्पष्ट है कि स्वहिंसा के पक्ष  
में सभी पापों का समावेश हो जाता है।

मस्तुतः पाठ का नाम देवां पयिकी सूत्र है। श्री राम साधु ने इसका  
अर्थ दिया है—'देवा-ईर्ष्या-आत्मनमित्यर्थः, तद्वत्तान् पश्या ईर्ष्यापयिकी  
मया विराधना, देवां पयिकी'—अतिशय सूत्र वृत्ति। ईर्ष्या का अर्थ  
गमन है, गमन कुछ जो पक्ष-मार्ग वह ईर्ष्यापक्ष कहा जाता है। ईर्ष्यापक्ष  
में होने वाली क्रिया—विराधना देवापयिकी होती है। मार्ग में इधर  
उधर जाते जाते जो हिंसा असत्य आदि क्रियाएँ हो जाती हैं, उन्हें  
ईर्ष्यापयिकी कहा जाता है। आचार्य हेमचन्द्र एक और भी अर्थ बता  
ते हैं—'न्याय साध्याचारः तत्र मया ईर्ष्यापयिकी'—योगशास्त्र स्थापन  
वृत्ति ३ प्रकाशः। आचार्य भी का अभिप्राय है कि ईर्ष्यापक्ष साधु-अर्थ  
आचार को कहते हैं और उसमें जो पाप—काश्चिमाद आती हो उनका

प्रेमांतपिको कहा जाता है। उक्त कालिना की शुद्धि के लिए ही प्रस्तुत पाठ है।

प्रश्न है, केवल 'निष्ठा नि दुष्कटं' कहने से पापों की शुद्धि किस प्रकार हो जाती है? क्या यह जैनों की सोचा है, जो सोचते ही गुनाह माफ हो जाते हैं? याव, जरा विचारने को है। केवल 'निष्ठा नि दुष्कटं' पाप दूर नहीं करता। पाप दूर करता है—निष्ठा नि दुष्कटं शब्दों से स्पष्ट होने वाला साधक के हृदय में रहा हुआ परधात्ताप। परधात्ताप को शक्ति बहुत बड़ी है। यदि निष्ठाएँ रुद्धि के फेर में न पड़कर, शुद्ध हृदय के द्वारा अन्दर की गहरी लगन से पापों के प्रति पूरा प्रकट की जाय, परधात्ताप किया जाय तो अवरय ही पाप कालिना धुल जाती है। परधात्तापका विमल वेगशाली भरना, अन्तरात्मा पर उभरे हुए शीघ्र रूप बड़े फरकट को बहावा हुआ दूर फेंक देता है, धाना को शुद्ध पवित्र बना देता है।

श्री भद्रबाहु स्वामी ने आयरयक पर एक विद्याज नियुक्ति ग्रन्थ लिखा है। उसमें 'निष्ठा नि दुष्कटं' के प्रत्येक अक्षर का निरर्थक उत्पुंक्त विचारों को लेकर, बड़े ही भाव-भरे दृष्ट से किया है। वे लिखते हैं—

'मे' । अ निट-अदवसे,  
'तु' ति दोतरा हृदये होइ ।  
'नि' । अ अ निराह ठिछो,  
'दु' ति दुष्कटान् अन्तरा ॥६८६॥  
'क' ति कट म पार,  
'ट' ति उदये न उदयनर ।  
एते निष्ठा दुष्कट—  
उदयनर को उदयनर ॥ ६८७ ॥

—अ अरक निपुंज

साधको का भावार्थ जैनों के नाम करण — साध के अनुसार

यह त्रिगुणा का अभिनय है। तदन्तर दोनों दुखने भूमिपर बैठ कर, दोनों हाथों को कमर के मुकुट की तरह जोड़ कर, गुण के लोभ से कर, दोनों हाथों की कोहलियाँ वेद के ऊपर रख कर, योग मुद्रा में अभिनय करना चाहिए। परन्तु मधुर स्वर में 'इच्छा कारेण वाग' में यदि 'नमोऽस्तुते' तक का पाठ पढ़ना चाहिए। यह आश्रयना के लिए आश्रयार्थ का मूल है। गुरुदेव को छोड़ से आश्रय मिल जाने पर 'इच्छा' कहना चाहिए। यह आश्रय की स्वीकारणा का मूलक है। इसके अनन्तर गुण के लोभ ही उठकर आसन से बैठ कर वा अने ही में 'इच्छा न वाग' से लेकर 'मिच्छामि' दुःख तक का पूर्व पाठ पढ़ना चाहिए। गुरुदेव में ही तो भगवान का ध्यान करके उनकी आज्ञा में ही पूर्व वा उतर की ओर मुक्त करने लगे ही कर वह सब पढ़ना चाहिए।

आश्रय की आज्ञा में प्रस्तुत मूल में आश्रयार्थों की वारण का है। भगवान का अर्थ विराज लक्ष विधानों द्वारा है।

प्रथम अनुष्ठान भगवान्, त्रिगुणा का अर्थ गुरुदेव से आश्रय लक्ष है। दूसरा निमित्त भगवान् है, त्रिगुणा आश्रयना का निमित्त अर्थ का विराजना वगैरह है।

तिसरी आश्रय-आश्रय इन्द्र भगवान् है, त्रिगुणा आश्रय उरु के भगवान् का अर्थ भूमि विरा है।

चौथा अर्थ-आश्रय इन्द्र भगवान् है, त्रिगुणा आश्रय अर्थ-आश्रय का अर्थ भूमि विरा इन्द्र भगवान् है।

अन्य अर्थ भगवान् है, त्रिगुणा अर्थ-आश्रय विरा-आश्रय अर्थ भगवान् का अर्थ भूमि विरा का अर्थ भूमि विरा का अर्थ भूमि विरा है।

इन्द्र अर्थ-आश्रय है, त्रिगुणा अर्थ भगवान् अर्थ भगवान् का अर्थ भूमि विरा है।

अन्य अर्थ भगवान् है, त्रिगुणा अर्थ भगवान् अर्थ भगवान् का अर्थ भूमि विरा है।

: ६ :

उत्तरी करण वृत्र

तन्म

उत्तरी करणेनं

पापान्छित करणन

विमोही करणेनं

वितल्ली करणेन

पावाण कम्माणं

निष्पापनहुए

आमि काउत्तमणं ।

सन्दर्भं

उत्त—उत्तरी, वृत्रिष्ठ आना की

उत्तरी करणेन—विशेष आकृष्टता के लिए

पापान्छित करणेन—आपत्तिवश करने के लिए

विमोही करणेन—विमोहि करने के लिए

वितल्ली करणेन—रत्न का त्याग करने के लिए

पावाण—पाप

कम्माणं—कर्मों का

निष्पापनहुए—बन्धु करने के लिए

आमि—आमि

काउत्तमणं—कराया है

### भावार्थ—

आत्मा को विशेष उत्कृष्टता-श्रेष्ठता के लिए, प्रापञ्चित के लिए, विशेष निर्मलता के लिए, शस्त्ररहित होने के लिए, पाप कर्मों का पूर्णतः विनाश करने के लिए मैं कार्योत्सर्ग करता हूँ—अर्थात् आत्मनिर्काश को प्राप्त के लिए शरीर सम्बन्धी समस्त चञ्चल व्यापारों का त्याग करता हूँ, विशुद्ध चिन्तन करता हूँ ।

### विवेचन

यह उल्लरी काव्य मूत्र है । इसके द्वारा वैवांचविक प्रतिक्रमण से कुछ आत्मा में बाकी रहती हुई मुख्य सक्रियता को भी दूर करने के लिए विशेष परिष्कार सम्बन्ध कार्योत्सर्ग का संकल्प किया जाता है । जीवन में जरा भी सक्रियता न रहने पर, यह महान् चार्जों, उच्च मूत्र के द्वारा अभिनित होता है ।

संस्कार के तीन प्रकार माने गए हैं—दोष मार्जन, हीनांग पूर्ति और अनिमगवादायक । इन तीनों संस्कारों के द्वारा प्रायेक प्रकार सभी विशिष्ट अवस्थाओं में पदुष्य जाता है । एक संस्कार यह है, जो सर्व प्रथम जागो का दूर करता है, वह दोषमार्जेन संस्कार कहलाता है । दूसरा संस्कार यह है जो जागो की कुछ भी लज्जा के दूर हो गई हो, इसे दूर कर जाग जाहल जागो के हीन स्वरूप की पूर्ति करता है, यह हीनांग पूर्ति संस्कार है । तीसरा संस्कार दोष रहित प्रदार्थ में एक प्रकृत का निगमना (मूर्ति) उत्पन्न-करता है, वह अनिमगवादायक संस्कार कहा जाता है । पञ्चपञ्चन संस्कारों का संस्कारान्तर, हमें विविध संस्कारों में विभज्य है ।

उदाहरण के रूप में अवलम्बित वस्तु का ही वह अनिमग । एक प्रकृत वस्तु को छोड़ कर वस्तु का वस्तु के क्षेत्र को दूर कर जाता है । वस्तु वह ही दोषमार्जेन संस्कार है । अनिमग वह वस्तु में से निम्न-प्रकृत, दूर में मूर्ति का जो अवलम्बित वस्तु की वह कर देता हीनांग पूर्ति





करने के लिए और अन्तः शक्ति को बाहर निकाल देने के लिए ही वह दूसरी बात कापोलन के द्वारा सुवि करने का प्रथम प्रयत्न किया जाता है। मन, वचन और शरीर की चंचलता इलाक, इलाक में शक्ति राग भगवान की स्तुति का प्रवाद बढ़ा कर, अपने आपकी बहुत ही चंचल व्यापारों से इलाक शुभव्यापार में केन्द्रित बनाकर, अर्थात् समाधिभाज की शक्ति के लिए एवं पाप कर्मों के निराकरण के लिए व्यवसाय करना ही, प्रस्तुत उत्तरी करण सूत्र का महा संग्रहकारी उद्देश्य है।

हो तो वह कापोलन की प्रविष्टि का सूत्र है। पाठक मात्तम अथवा बाह्य होने कि कापोलन का अर्थ क्या है ? कापोलन में दो अर्थ हैं—काय और शरीर। अथ कापोलन का अर्थ हुआ—कायशरीर का, शरीर की चंचल क्रियाओं का उत्सर्ग-प्रत्याग। विशेषार्थ यह है कि कापोलन करते समय माथक शरीर का भाव भूलकर, शरीर की मोक्ष-माया त्याग कर आत्म-भाव में प्रवेश करता है। और जब आत्म-भाव में प्रविष्ट होकर वह परमात्मका समान किया जाता है, तब वह परमात्मभाव में विलीन हो जाता है। तब कि वह परमात्मभाव में ही विलीन प्रविकसित प्रत्यक्ष दृष्टा में पहुँचती है, तब आत्म शक्तियों से स्वच्छ पाप कर्मों की निर्मिती होती है, जीवन में प्रविष्टता जाती है। आत्मवर्त्मिक प्रविष्टता का सूत्र कापोलन में समाविष्ट है।

कापोलन की व्युत्पत्ति में शरीर की चंचलता का त्याग उपलब्ध मात्र है। शरीर के साथ मन, वचन का भी संबंध है। मन, वचन और शरीर का दुष्प्रभाव जब तक होता रहता है तब तक पाप कर्मों का आशय कर्म नहीं हो सकता। और जब तक कर्म कथन से दूरस्थ नहीं होता, तब तक मोक्षार्थ की मायका पूर्ण नहीं होती। तब कर्म कथन का बाह्य के लिए तथा कर्मों का आशय रोचने के लिए मन, वचन और शरीर के अनुसन्धानों का त्याग आवश्यक है, और वह त्याग कापोलन की शक्तियों के द्वारा होता है। इस प्रकार कापोलन

क'ए टाँस का प्रभाव बाराह है, यह न भुलना चाहिये ।

[illegible][illegible]





माया आदि शक्य भी जब अन्वद्भ्य में घुस जाते हैं तब साधक की आत्मा को शक्ति नहीं देने देते हैं, सर्वदा व्याकुल एवं बेचैन किए रहते हैं, सर्वथा असुख बनाए रखते हैं। अतिसा, सत्य आदि सत्ता का आध्यात्मिक स्वास्व्य है, वह शक्य के द्वारा चोपट हो जाता है, साधक आध्यात्मिक दृष्टि में बीमार पड़ जाता है।

(१) मायाशक्त्य—माया का कार्य कपट होता है। भयान् करना, रोग रचना, जलता को डगने की मनोवृत्ति रचना, धरत को बाहर दृक्कर न सरल न रहना, स्वीकृत वस्तु में छुपे लोगों की आँखें बंद न करना, इत्यादि मायाशक्त्य है।

(२) निदानशक्त्य—धर्माचार्य से सांसारिक सब की कामना करना, भागों की आकांक्षा रखना, निदान है। किसी राजा आदि का धन, वैभव दम्भकर किता मुनकर मन में यह संकल्प करना कि मन्मथ, या आदि मेरे धर्म के अक्षयस्वरूप मुझे भी यह ही वैभव-समृद्धि प्राप्त हो, यह निदानशक्त्य है।

३. मिथ्यादर्शन शक्त्य—सत्य पर भ्रम न डालना, धर्म का आग्रह रखना, मिथ्यादर्शन शक्त्य है। वह शक्य बहुत भयंकर है। इसके कारण कभी भी सत्य के प्रति अभिरुचि नहीं होती। यह शक्य सम्बन्धार्थन का विरोधी है।

इसके साथ-साथ के द्वारा ये, सम्बन्धार्थन सूत्र में उल्लिखित कार्य भी हुए किसी भी शक्य का संकल्प बना रहना, तब तक कोई भी नियम बना मन विगूढ़ नहीं हो सकता। साधक की मन चञ्चल मिथित होता है, मायाशक्त्य का मन बीभत्सता मानना से मुख्य भ्रम होता है। मिथ्या दृष्टि का मन कलह प्रत्यक्षित व्यवहार है। सम्बन्ध के अन्तर्गत न केवल द्वन्द्व-भाव भी सर्वथा निरस्त है। इसका कभी शक्य का कारण है।

अन्तर्गत सम्बन्धार्थन शक्त्य के सम्बन्ध में उल्लिखित बातें हैं। सम्बन्ध है कि मन जब चञ्चल हो मुक्ति के द्वार, सम्बन्ध बनाने

है। भावतेष्वपि एतद्विदुर्भावे के बिना नहीं हो' सकता, अतः भाव-  
द्विदुर्भावे कारणरूपक है। भावद्विदुर्भावे के बिना स्वयं का त्याग प्रकृत है। स्वयं  
का त्याग और त्यागकर्त्ता का साथ कायेत्यनेन हो सकता है अतः काये-  
तो का एक

३ ७ ३

## साधार गूत्र

अम्ल-व द्रव्योपपन्नं नाममिलनं,

क्षीरमपि दूतं च विसृज्यते,

अथ वा ३ ३ ३ नमस्कृतं

अथ वा ३ ३ ३ नमस्कृतं ॥ ३ ॥

अथ वा ३ ३ ३ नमस्कृतं

अथ वा ३ ३ ३ नमस्कृतं

अथ वा ३ ३ ३ नमस्कृतं ॥ ३ ॥

अथ वा ३ ३ ३ नमस्कृतं

अथ वा ३ ३ ३ नमस्कृतं

अथ वा ३ ३ ३ नमस्कृतं

अथ वा ३ ३ ३ नमस्कृतं

अथ वा ३ ३ ३ नमस्कृतं

अथ वा ३ ३ ३ नमस्कृतं

अथ वा ३ ३ ३ नमस्कृतं ॥ ३ ॥



संज्ञार्थ

अन्त्य=आगे कहे जाने वाले  
आगारो के सिवा कायो-  
तमामें केव काय व्यापारो  
को त्याग करता हू ।

उत्तर=उत्तराय मे  
निराश=निराश मे  
एतन्नाम=एतन्नाम मे  
प्रीति=प्रीति से  
उत्तर=उत्तर-उत्तर मे  
उत्तर=उत्तर से  
उत्तर=उत्तर-उत्तर मे  
अन्त्य=अन्त्य आगे से  
अन्त्य=अन्त्य आगे से  
अन्त्य=अन्त्य आगे से

उत्तर=उत्तर  
कोर=कोर-कोर से  
उत्तर=उत्तर  
उत्तर=उत्तर-उत्तर से  
उत्तर=उत्तर  
उत्तर=उत्तर-उत्तर से  
उत्तर=उत्तर  
उत्तर=उत्तर-उत्तर से

आगारो=आगारो-अपवादो से  
मे=मेरा

उत्तर=उत्तर-उत्तर से

अन्त्य=अन्त्य

अन्त्य=अन्त्य-अन्त्य से

उत्तर=उत्तर

[ कायो-अन्त्य कहे तक ? ]

अन्त्य=अन्त्य

अन्त्य=अन्त्य-अन्त्य से

अन्त्य=अन्त्य-अन्त्य से

अन्त्य=अन्त्य-अन्त्य से  
अन्त्य=अन्त्य-अन्त्य से

अन्त्य=अन्त्य-अन्त्य से

अन्त्य=अन्त्य-अन्त्य से

अन्त्य=अन्त्य-अन्त्य से  
अन्त्य=अन्त्य-अन्त्य से

अन्त्य=अन्त्य-अन्त्य से

अन्त्य=अन्त्य-अन्त्य से

अन्त्य=अन्त्य-अन्त्य से

अन्त्य=अन्त्य-अन्त्य से

अन्त्य=अन्त्य-अन्त्य से  
अन्त्य=अन्त्य-अन्त्य से

संज्ञार्थ

अन्त्य=अन्त्य-अन्त्य से  
अन्त्य=अन्त्य-अन्त्य से

हरकत में आजाती हैं, उनको छोड़कर।

उच्छ्वास=ऊँचा स्वास, निःस्वास=नीचा स्वास, काष्ठित=त.सो, द्विस्त=द्वीक, उपासी, डकार, अपानास्यु, चक्कर, पित्तविकारजन्य दृष्टि, सूक्ष्मरूप से अंगों का हिलना, सूक्ष्म रूप से कंक का निचलना, सूक्ष्मरूप से नेत्रों का हरकत में आजाना, इत्यादि व्यापारों में मेरा कायोन्मर्ग अभ्यस्य अविराहित हो।

जब तक अरिहत भगवान को नमस्कार न कर लूँ—अर्थात् 'नमो अरिहताय' न पढ़ लूँ, जब तक एक स्थान पर स्थिर रहकर, मौन रहकर, धर्म ध्यान में चित्त की एकता बना करके अपने शरीर को पाप-व्यापारों से बोलिगता हूँ=अभ्यस्य करता हूँ।

### विशेष

कायोन्मर्ग का अर्थ है, शरीर की सब प्रवृत्तियों को रोक कर स्थिर तथा निरचल एवं निस्वन्द रहना। माधक जीवन के लिए यह निर्वाण का मार्ग अतीव आवश्यक है। इसके द्वारा मन, बचन एवं शरीर में दृढ़ता का भाव पैदा होता है, जीवन समता के क्षेत्र में बाहर होता है, मन और आत्म-ज्योति का प्रकाश फैल जाता है एवं आत्मा वास्तविक में सम्बन्ध बनाकर, वास्तविक बनता है, शरीर की ओर से भी पराङ्मुख होकर अपने वास्तविक मूलस्वरूप के केन्द्र में अवस्थित हो जाता है।

परमन् एक बात है, जिस पर ध्यान देना आवश्यक है। माधक किताबों की ज्यों न हटें एवं माधमी हों। परमन् कुछ शरीर के व्यापार ऐसे हैं, जो बराबर होने रहते हैं, उनका किसी भी प्रकार में बन्द नहीं किया जा सकता। यदि हटाना बन्द करने का प्रयत्न किया जाय तो काम के बदल जाना की सम्भावना है। अतः कायोन्मर्ग में पहले यदि इन व्यापारों के सम्बन्ध में कुछ न समझा जाय तो फिर कायोन्मर्ग की प्रतिज्ञा का भग होता है। प्रतिज्ञा है, शरीर के व्यापारों का त्याग करता हूँ, और उपर स्वाम आदि के व्यापार चल्ने रहने हैं, अतः प्रतिज्ञा का



पंचेन्द्रिय जीवों का वेदन-वेदन आगार स्वरूप इसलिये रहा गया है कि यदि अपने समस्त क्षिप्ती जीव की हत्या होती हो तो पुरस्कार न देखा रहे। शीघ्र ही ध्यान खोजकर उस हत्या को बन्द करना चाहिए। अहिंसा से बढ़कर कोई साधना नहीं हो सकती। सर्वांग क्षिप्ती को काट ले तो वहाँ भी महात्मता के लिये ध्यान खोजा जा सकता है। इसी भाव को सत्य में रखकर अचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र के तीसरे प्रकाश पर की अपनी खोपण कृति में लिखते हैं—“मार्तं मृषिकादेः पुरतो गमने ज्ञातः सतोऽपि न भद्रः ।...मर्दये अहमनि वा सज्ज्यादी सहसा उपचारयतो न भद्रः ।

‘अनमो’ और ‘अनिरिच्छो’ के संस्कृत रूप अमनः अभमन एवं ‘अविराधित’ हैं। अभमन का अर्थ पूर्णतः बह न होना है, और अविराधित का अर्थ देशतः नष्ट न होना। ‘अमनः सर्वथा निराश्रितः, न मानोऽभमनः। विराधितो देशभमनः न विराधितोऽविराधितः’ ●

—योगशास्त्र मृताप प्रकाशटीका ।

कायोन्मग्न पञ्चात्मन से करना चाहिए अथवा बिछाव सीधे की होकर, नीचे की ओर भुजाओं को प्रत्यक्षमान रखकर, बाँवें नासिका के समभाग पर जमाकर अपना बन्द करके त्रिज मुद्रा के द्वारा करना भी अधिक सुन्दर होगा। कायोन्मग्न में इन बातों का सामान्यतया ध्यान रखना चाहिए—एक ही पैर पर अधिक भार न देना, दीवार छर्चि का सहारा न लेना, मस्तक नीचे की ओर नहीं झुकाना, बाँवें नहीं फिराना, मिर नहीं दिखाना आदि ।

मूत्र में कायोन्मग्न के काज के सम्बन्ध में बर्णन करते हुए जो न कहा गया है कि—‘नमो अहिंसाया’ पहले तक कायोन्मग्न का काज है, इसका यह अर्थ नहीं कि कायोन्मग्न का कोई निश्चित काज नहीं, अब तो चाहा सभी नमो अहिंसार्थ रहा और पूर्ण कर दिया। नमो अहिंसार्थ के पहले का तो यह भाव है कि जिसने काज का कायोन्मग्न किया तब अथवा जो कोई निश्चित पाद रहा तब, वह पूर्ण हो



३-८ :

चतुर्विंशतिस्तत्र सूत्र

( १ )

लोगस्तु उज्जोयगरे,

धम्मतिस्थपरे त्रिणे ।

अरिहते कित्तइस्स,

चउवीस पि केवलौ ॥

( २ )

उसभमजिय च वदे,

सभवमभिणदण च मुमई च ।

पउमप्पह मुपाम,

त्रिण च चउप्पह वदे ॥

( ३ )

मुविहि च पुप्फदत्त,

सीअल-सिउजस-यामुपुज्ज च ।

विमलमणत्त च त्रिण,

धम्म सति च वदामि ।

( ४ )

कुय अर च मल्लि,

वदे मुणिसुच्चय नमित्रिण च

वदामि त्रिदुनेमि,

पातं तह पदनाणं च ॥

( १ )

एवं नए अनियुआ,

विदुय-रयनला पहीण-अरमरणा ।

नउवीसं पि जिणवरा,

तित्पयरा ने पत्तीयनु ॥

( १ )

वित्तिप-वदिय-नहिना,

उ ए लोगस्म उत्तना सिद्धा ।

आरग्न-वोहिलान,

समाहि-वरमुत्तनं विनु ॥

( २ )

अरेनु निम्नतयरा,

आद-वेनु अहिय पयानयरा ।

गातरयरागभीरा

निद्धा सिद्धि नम दित्तनु ॥

दृष्टव्यं

( १ )

लोकर-अमरुयं लोक के

उपलोक-अमरुयं उपलोक के

पल्लव-अमरुयं पल्लव के

अमरुयं अमरुयं के

अमरुयं अमरुयं

अमरुयं अमरुयं

अमरुयं अमरुयं

अमरुयं अमरुयं

( १ )

अमरुयं अमरुयं

अमरुयं

आऽवदं च विना को  
इदं च न्यूनं कर्त्ता ह

म. १८. ७. १०

च ऽ चोद

सु मेता १०८ च अभिनय न्यून

च ऽ चोद

मुमदं च न्यूनं को

१०८. १०८ च अभिनय न्यून

सु म. १८. ७. १०

च ऽ चोद

न. १०८ च अभिनय न्यून

सु म. १८. ७. १०

१०८ च अभिनय न्यून

( ३ )

स. १०८ च अभिनय न्यून

च ऽ चोद

१०८. १०८ च अभिनय न्यून

च ऽ चोद

न. १०८ च अभिनय न्यून

१०८. १०८ च अभिनय न्यून

१०८. १०८ च अभिनय न्यून

१०८. १०८ च अभिनय न्यून

च ऽ चोद

१०८. १०८ च अभिनय न्यून

१०८. १०८ च अभिनय न्यून

१०८. १०८ च अभिनय न्यून

च ऽ चोद

संज्ञा च विना को  
संज्ञा च न्यूनं कर्त्ता ह  
( ४ )

संज्ञा च न्यूनं

संज्ञा च न्यूनं

च ऽ चोद

संज्ञा च न्यूनं

मुनि मुनि च न्यूनं

च ऽ चोद

नाम. १०८ च अभिनय न्यून

च ऽ चोद

संज्ञा च न्यूनं

संज्ञा च न्यूनं

च ऽ चोद

संज्ञा च न्यूनं

संज्ञा च न्यूनं

संज्ञा च न्यूनं

( ५ )

संज्ञा च न्यूनं

संज्ञा च न्यूनं

संज्ञा च न्यूनं

संज्ञा च न्यूनं

संज्ञा च न्यूनं

संज्ञा च न्यूनं

संज्ञा च न्यूनं

संज्ञा च न्यूनं

संज्ञा च न्यूनं

संज्ञा च न्यूनं



( १ )

विदुःदेवे

( २ )

विदुः

विदुः

विदुः=विदुः

विदुः=विदुः

विदुः=विदुः

विदुः=विदुः

विदुः=विदुः

विदुः=विदुः

विदुः=विदुः

विदुः=विदुः

विदुः=विदुः

विदुः=विदुः

विदुः=विदुः

विदुः=विदुः

विदुः=विदुः

विदुः=विदुः

विदुः=विदुः

विदुः=विदुः

विदुः=विदुः

विदुः=विदुः

विदुः=विदुः

विदुः=विदुः

विदुः=विदुः

विदुः

विदुः=विदुः

विदुः=विदुः

विदुः=विदुः

विदुः=विदुः

नेमि, पार्श्वनाथ, अन्तिम तीर्थं कर वद्धमान (महावीर) सभी को नमस्कार करता है ॥४॥

जिनको मैंने स्तुति की है, जो कर्मरूप धूल के मल से रहित है, जो जलमय दोनो से सर्वथा मुक्त है, वे अन्तः शत्रुओं पर विजय पायेगा। परमप्रवर्तक चौबीस तीर्थं कर मुझपर प्रकट हो ॥५॥

जिनको इन्द्रादि देवों तथा मनुष्यों ने स्तुति की है, चन्द्रमा की पूजा, अर्चा की है, और जो अस्तित्व संसार में सबसे उत्तम है, वे सिद्ध तीर्थं कर भगवान् मुझे आरोग्य=सिद्धि अर्थात् आत्म-शान्ति, कोषि सम्पत्ति=मादि सन्तान का पूर्ण लाभ, तथा उत्तम समाधि प्रदान करें ॥६॥

जो अनेक कोटाकोटि चन्द्रमाओं से भी विशेष निर्मल है, जो सर्वो भी अधिक प्रकाशमान है, जो स्वयं मूलमय जैसे महासमुद्र के समान गम्भीर है, वे सिद्ध भगवान् मुझे सिद्धि अर्पण करें, अर्थात् उनके अन्तःमन से मुझे सिद्धि=मोक्ष प्राप्त हो ॥७॥

### विशेषण

सामाजिक की व्यवस्था के लिए आत्म-विशुद्धि का होना आवश्यक है। अतएव सर्व प्रथम आलोचना मूल के द्वारा देवी, पति, प्रविष्टि=माय करके आत्म-शुद्धि की गई है। अतएव विशुद्धि के लिए अधिक उक्तों के लिए, एवं हिंसा आदि भूतों के लिए प्रविष्टि करने के लिए आवश्यकता की माध्या का उल्लेख किया गया है। दोनों साधनाओं के बाद, यह पुनः तीसरी बार भक्त रूप में चतुर्विंशतिस्तव मूल के द्वारा भक्तिगुणा की वर्णन करने का विधान है। समाज में चतुर्विंशतिस्तव की बहुत अधिक महत्त्व प्राप्त है। वस्तु-संगम्य भक्ति साहित्य की एक समग्र रचना है। इसके अत्यन्त अन्तिम-भाव का अन्तर्गत लोग किया हुआ है। अगर कोई भक्त, परम-परम भक्ति-भावना से भरे हुए चर्च का समाधान करता हुआ, उक्त को बड़े ही वह व्यवस्था ही सामान्य विधायक हुए बिना न रहेगा।

साधना में साधकत्वपूर्णता का जहाँ आगे बढ़ना है । और यह साधकत्वपूर्णता किसे प्रकाश आध्यात्मिक विद्या है ? यह विद्या है, 'अनु-विद्या' रत्न के द्वारा । 'अनु-विद्या' का अर्थ है—'अनु-विद्या'—अनु-विद्या ६६ १ १ ।

आम साधारण आध्यात्मिक धर्म, दुःखित एवं पीडित है । आगे और बढ़ना एवं यह भी उदाहरण के लिए है, और बीच में अथवा अभाव-मैत्री गुण है, उसे अपनी गुणों का कोई भी अर्थ नहीं होता । ऐसा अभाव में साधकत्वपूर्णता के द्वारा साधकत्वपूर्णता में है, और अपने हीम दोषों को है । आत्म, भूत, भवभुक्त और विद्या सभी धर्मों का एक धर्म है । सत्य उन्हें हमेशा से एक ही उपाय बताते हैं और और—आत्म का नाम, और सब नामों को नहीं, बल्कि उच्चतम सब दिया गया है । और वह नहीं । आत्मत्व के नाम में अपार शक्ति है, अपार बल है, जो बाह्य से भी सके हो, धारणकर्ता है, धर्मों को । बिना धर्मों एवं विद्या के कुछ नहीं होता । आत्मो जन्म धर्मों, सब धर्मों का एक ही धर्म नहीं मित्रता केवल आत्म के जोड़-दार से दूर कर और आत्म । और धर्मों और विद्या का बल लेकर आगे बढ़ना तो संपूर्ण विद्या का निम्नलिखित धर्मों में मिली पावनी ।

एक कहानी है । विद्याओं की सन्ता था । एक विद्या गुहा पर किसे उपस्थित हुए । एक न गुहा—गुहा में क्या है ? उत्तर मित्रा-दाया । दूसरा न गुहा—उत्तर मित्रा-पौवा । तीसरे न गुहा—उत्तर मित्रा—गाय । विद्या न किमा का धर्म तो किमा का मित्र किमा को हिमाजय तो किमा का सन्त किमा को और तो किमा को भुक्त बता-बता कर सबका आध्यात्म में दाज दिया । सब लोग कहने लगे—गुहाई या धर्म ? गुहा में यह सब कुछ नही दासकता । संध्या कृष्ण । विद्याने गुहा खोजी-एक न-ही रहा हम को आत्मता हयजी पर रखी थी । पाना दाया, दयाय मरत पुत्र गया । अब विद्या के दास में कायम था, कर्म था । जो कुछ कहा था वह सब सुन्दर विद्या के रूप में सबका मिल गया ।







बार एक बार भी अपने कल्पना पथ पर ला सकें तो धन्य धन्य हो जायेंगे, भौतिक आनन्द में आत्मविभोर हो जायेंगे। कौन कहता है कि हमारे महापुरुष के नाम, उनके स्तुतिमूर्तब, कुछ नहीं करते। यह तो आत्मा से परमात्मा बनने का पथ है। जीवन को सरल, सुन्दर एवं सबल बनाने का प्रयत्न साधन है। अतएव एक पुनः से, एक लगन से अपने धर्म-तार्पणों का, अतिहन्त भगवानों का स्मरण काविए। सूत्रकार ने इसी उच्च आदर्श को ध्यान में रख कर चतुर्विंशतिस्त सूत्र का निर्माण किया है।

‘धर्मतार्पण’ शब्द का निर्वचन ध्यान में रखने लायक है। धर्म का अर्थ है, जिसके द्वारा दुर्गति में, दुर्बल्या में पतित होता हुआ आत्मा संभल कर पुनः स्वस्वरूप में स्थित हो जाय, वह अभ्यास साधना। तार्पण का अर्थ है, जिस के द्वारा संसार समुद्र से तिराजाय, वह साधना। “दुर्गतां नन्दन्तनाम्नानं धरत्यतार्पणे धर्मः—तार्पणेनेन इति तार्पणं धर्म एव तार्पणं धर्मतार्पणम्”—बनित्तायु । अस्तु संसार समुद्र से तिराने वाला, दुर्गति से उद्धार करने वाला धर्म ही सच्चा तार्पण है। और जो इस प्रकार के अहिंसा तथा आदि धर्म तार्पण को स्थापना करते हैं, वे तार्पण कहलाते हैं। चौकोस ही तार्पणों ने, अपने अपने समय में, अहिंसा आदि आत्मधर्म को स्थापना की है, धर्म से भ्रष्ट होतो हुई जनता पुनः धर्म में स्थिर की है।

‘जिन’ का अर्थ है विजेता है। किन का विजेता ? इसके लिए फिर आचार्य नमि के पास चलिये, क्योंकि वह आध्यात्मिक परिभाषाओं का एक विज्ञानपरिचित है। वह कहता है—“यस्य द्वेय इन्द्रियेन्द्रिय परि-पोततमः पञ्चकर्म कर्म जेदुता जिज्जाः।” राग द्वेष, कषाय, इन्द्रिय, परिग्रह, उपसर्ग, अप्यविध कर्म के अंतर्गत से जिन कहलाते हैं। चार और आठ कर्म के बन्धन में न पड़िए। चार अघातकर्म भी विजित्याय ही हैं। दासता हीन पुरुष के लिए केवल मोक्ष नाश है, बंधन नहीं। धातुकर्म नष्ट होने के कारण अब इससे आये कर्म नहीं बंध सकते।

यह तो तीर्थंकरों के जीवन काज के लिए बात है। और यदि वर्तमान में प्रचलन है तो चौबीस तीर्थंकर भव मोक्ष में पहुँच चुके हैं, बाँचे ही कमों को नष्ट कर चुके हैं, अतः पूर्ण जिन है।

जैनधर्म ईश्वर वादी नहीं है; तीर्थंकर वादी है। किसी माँस परोक्ष एवं अज्ञात ईश्वर में, यह बिल्कुल विश्वास नहीं रखता। उमका कहना है कि जिस ईश्वर नामधारी व्यक्ति की स्वरूप सम्बन्धी कोई रूपरेखा हमारे सामने ही नहीं है, जो अनादिकाल से मात्र कल्पना का विषय ही रहा है, जो मर्रा से अलौकिक ही रहता चला आया है, वह हम मनुष्यों को अपना क्या आदर्श दिखा सकता है ? उसके जीवन पर से, उसके ध्येयपर पर से हमें क्या कुछ लेने लायक मिल सकता है ? हम मनुष्यों के लिए तो वही आराध्य देव चाहिए, जो कभी मनुष्य ही रहा हो, हमारे समान ही संसार के मुक-दुख से एवं मोह माया से संश्रस्त रहा हो, और बाद में अपने अनुभव एवं आध्यात्मिक ज्ञानरस के बल से संसार के समस्त मुक्त भोगों को दुःख मानकर तथा प्राप्त राज्य-वैभवं को टूटकर कर निर्वाण पर्य का एवं ॥॥ साधक बना हो, कलम्यकाल मर्रा के लिए समंन्वयों से मुक्त होकर अपने मोक्ष स्वरूप अविम जल पर पहुँचा हो। जैन धर्म के तीर्थंकर एवं जिन इसी श्रेणी के साधक थे। वे कुछ आरम्भ से ही देव न थे, अलौकिक न थे। वे भी हमारी ही तरह एक-दिन हम संसार के पामर प्राणी थे, परन्तु अपनी अस्वात्म-साधना के बल पर अन्त में जाकर शुद्ध, मुक्त एवं विम्वरंश हो गए थे। प्राचीन धर्मशास्त्रों में आठ भौ उनके उपाय-पान के अनेक कहने-सीढ़े अनुभव एवं कर्मस्थ साधनाओं के बल पर अन्त में सिद्ध हुए हैं, जिन पर क्या साधक चला कर हर कोई साधक अपना अन्त कल्याण कर सकता है। तीर्थंकरों का आदर्श साधक जीवन के लिए अममल अनुभव एवं निवेदन का ऐसा विश्व उपस्थित करना है।

महिषा' का अर्थ महिन=पुत्रित होता है। इस पर विचार कर



की कोई बात नहीं है। सभी पन्दीय पुरुष, हमारे पूज्य होते हैं। आचार्य पूज्य हैं, उपाध्याय पूज्य हैं, माधु पूज्य हैं, फिर भला गीर्ध-  
कर क्यों पूज्य होंगे। उनमें बढ़कर तो पूज्य कोई हो ही नहीं सकता।

पूजा का अर्थ है, स्पर्शकर पूज्य सम्मान करना। वर्तमान पूजा आदि के गार्हिक संघर्ष से पूज्य होने वाले आचार्यों ने ही पूजा के दो भेद किए हैं, द्रव्य पूजा और भावपूजा। शरीर और वस्त्र को बाह्य विषयों से संकोच कर प्रभु पन्दना में नियुक्त करना द्रव्य पूजा है और मन को भी बाह्य भोगासक्ति से हटाकर प्रभु के चरणों में अर्पण करना, भावपूजा है। इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों विद्वान् एकमत हैं।

दिगम्बर विद्वान् आचार्य अमित गति कहते हैं—

गचो विम्रह संकोचो द्रव्य पूजा निगजते ।

तत्र मानस-संकोचो भावपूजा पुरातनैः ॥

—अमितगति भावकाचार

श्वेताम्बर विद्वान् आचार्यनमि कहते हैं—

पूजा च द्रव्य भार संकोचस्तत्र करशिरः पादादि संन्यासो

द्रव्य संकोचः, भार संकोच तु निशुद्धमनसो नियोगः ।

—प्रतिपातदण्डक, पदापरयक टीका

भागवतपूजा के लिए पुष्पों की भी आवश्यकता होती है ? प्रभु के समक्ष उपस्थित होने वाला पुष्पहीन कैसे रह सकता है ? आहू, सुवि-  
भुत दार्शनिक जैनाचार्य हरिभद्र हमें कौन से पुष्प बतलाते हैं ? उन्होंने बड़े ही प्रेम से प्रभुपूजा के योग्य पुष्प चुन रखे हैं—

अहिंसा सत्यनस्तेयं ब्रह्मचर्यमसङ्कता,

गुरुभक्तिरूपो ज्ञानं सत्प्राप्तिं प्रचक्षते ।

—अष्टक ३।६

देखा, आपने कितने सुन्दर पुष्प हैं ? अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्म-  
चर्य, अनासक्ति, भक्ति, तप और ज्ञान—प्रत्येक पुष्प जीवन को महका

देने वाला है। सम्राट के पुजारी बनने वालों को इन्हीं इष्ट के मातृ पुण्यों द्वारा पूजा करनी होगी। चम्पया स्पष्ट क्रियाकारण से कुछ नहीं होना माना। प्रभु की सम्पत्ति पूजा-उपासना तो यही है कि—हम सब सोचें, अपने वचन का पालन करें, कठोर भावण न करें, किसी को पीटा न पहुँचाएँ, मद्यपन्य पालन करें, वासनाओं को जीतें, पवित्र विचार रखें, सब जीवों के प्रति सम्भाव एवं सम्राट की भावना पैदा करें, खीटैयणा एवं विधैयणा से नकारण करें। जब इन भाव पुण्यों की सुगन्ध भावके इष्ट के अणु-अणु में समा जाए, उस समय ही समझना चाहिए कि हम अपने पुजारी बन रहे हैं और हमारी पूजा में अपूर्ण दण्ड एवं शान्त का संचार हो रहा है।

प्रभु के दरबार में यही पुण्य लेकर पहुँचो। प्रभु को इन से असीम प्रेम है। उन्होंने अपने जीवन का तिल-तिल इन्हीं पुण्यों की रक्षा करने के पीछे मार्ग किया है, विपत्ति की घसट जोरों को मुस्कराते हुए सहन किया है। अतः जिसको जिस वस्तु से आस्थाधिक प्रेम हो, वही लेकर उसकी सेवा में उपस्थित होना चाहिए। पूजा व्यक्ति के अनुसार होती है। चम्पया पूजा नहीं, पूजा का उपहास है। पूज्य, पूजक और पूजा का परस्पर सम्बन्ध रखने वाली योग्य त्रिपुटी ही जीवन का कल्याण कर सकती है, चम्पया नहीं।

विशामह भीष्म शरशय्या पर पड़े थे। तमाम शरीर में बाध बिधे थे, परन्तु उनके अस्तक में बाध न लगने से शिर नीचे झटक रहा था। भीष्म ने ठकिया माँगा। खोग बीदे और बरम-बरम कई से भरे कोमल मडिये लाकर उन के शिर के नीचे रखने लगे। भीष्म ने उन सबको खीरा दिया, कहा—‘अर्जुन को बुझाओ।’ अर्जुन धावे। भीष्म ने कहा—‘बंटे अर्जुन।’ शिर नीचे झटक रहा है, लज्जित हो रही है, हरा ठकिया हो।’ अर्जुन अर्जुन ने गुरम्व चीन काष्ठ अस्तक में मार कर बीरवर भीष्म की स्तिरि के अर्जुन ठकिया दे दिया। विशामह ने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया। क्योंकि अर्जुन ने जैसी शय्या की वैसा ही ठकिया

दिना । उस समय महावीर भोजन को आराम पहुँचाने की इच्छा से उन्हें रुई का ठकिया देना उन्हें कष्ट पहुँचाना था, उनके स्वरूप का अपमान था, उनके शूरत्व का उपहास था, और था उनकी महिमा के प्रति अपने मोह-अज्ञान का प्रदर्शन । किसकी कैसी उपासना होनी चाहिए, इस के लिए यह कहानी ही पर्याप्त होगी, अधिक क्या ?

लोगत्स ने जो 'आरोग्य' शब्द आया है, उस के दो भेद हैं—द्रव्य और भाव । द्रव्य आरोग्य यानी ज्वर आदि रोगों से रहित होना । भाव आरोग्य यानी कर्म रोगों से रहित होकर स्वस्थ होना=ब्रह्मस्वरूपस्थ होना, सिद्ध होना । सिद्ध दया पाकर ही दुर्दशा से छुटकारा मिलेगा । प्रस्तुत सूत्र में आरोग्य से अभिप्राय, भाव आरोग्य से है, द्रव्य से नहीं । परन्तु इस का यह अर्थ नहीं कि साधक को द्रव्य आरोग्य से कोई वास्ता हो नहीं रहना चाहिए । भाव आरोग्य की साधना के लिए द्रव्य-आरोग्य भी अवश्य है । यदि द्रव्य आरोग्य हमारी साधना में सह-कारी हो सकता है तो यह भी अवश्य है ही, त्याग्य नहीं ।

'समाधिपरनुत्तमं' में समाधि शब्द का अर्थ बहुत गहरा है । यह दार्शनिक जगत का महानाम्न शब्द है । वाचक परीक्षित्र जी ने कहा है—जय कि ध्याता, ध्यान पूर्व ध्येय की दैव-स्थिति हट कर केवल स्व स्वरूप मात्र का निर्भास होता है, यह ध्यान, समाधि है । "तत्त्वज्ञानं निर्भासं, समाधिर्भासं नैव हि"—द्वैतिका २४।२३। उपाध्याय जी की उद्दान बहुत ऊँची है । समाधि का कितना ऊँचा आदर्श उपस्थित किया है । योगनृपकार पतञ्जलि भी वाचक जी के ही पय पर हैं ।

भगवान् महामोक्ष साधक जीवन के बड़े मर्मज्ञ पारखी हैं । स्थानां सूत्र में समाधि का वर्णन करते हुए आने समाधि के दस प्रकार बतलाए हैं—पाँच महाप्रव और पाँच सन्निति । —"इत्येवैव समाधिं १० तं ० तत्त्वज्ञानं चैव नैव".....स्थानां १०।११।११। "पाँच महाप्रव और पाँच सन्निति का मानव जीवन के उत्थान में कितना महत्व है ? यह पूछने की बात नहीं । समस्त जैव वाङ्मय इन्हीं के उप-नयन से



कि हन धर-उधर न भटक कर अपने आत्म-निर्माण के बिण ही मंगल मानना करें—'समादिनमुत्तमं दिव ।'

अब एक अन्तिम शब्द 'सिद्धि सिद्धि मन दिसंतु' रह गया है, जिस पर विचार करना आवश्यक है। कुछ सज्जन कहते हैं कि—भगवान् तो बीतराग हैं, कर्ता नहीं हैं, उनके भी चर्यों में यह स्वार्थ की प्रार्थना क्यों और कैसे ? उत्तर में कहना है कि—यन्तु बीतरागी हैं, कुछ नहीं करते हैं, परन्तु उनका अवलम्ब लेकर भक्त तो सब कुछ कर सकता है। सिद्धि, प्रभु नहीं देते, भक्त स्वयं ग्रहण करता है। परन्तु भक्ति की भाषा में इस प्रकार प्रभु चर्यों में प्रार्थना करना, भक्त का कर्तव्य है। ऐसा करने से अहंता का नाश होता है, हृदय में भद्रा का सब-आश्रय होता है, और भगवान् के प्रति अर्पण सम्मान प्रदर्शित होता है। यदि लौकिक भाषा में उन्हें तो इसका अर्थ—सिद्ध, तुम्हें सिद्धि प्रदान करें, यह न होकर यह होगा कि सिद्ध प्रभु के आलम्बन से तुम्हें सिद्धि प्राप्त हो। अब यह प्रार्थना, भावना में बदल गई है। जैसे लक्ष्मी से भावना करना, घननिदान्त नहीं, किन्तु मुक्तिदान्त है। जैसे धर्म में भगवान् का स्मरण केवल भद्रा का सब आश्रय करने के लिए हो है, वहां जैसे-ऐसे के लिए कोई स्थान नहीं। हम भगवान् को कर्ता नहीं मानते, केवल अपने जीवन-रथ का सारथी मानते हैं। सारथी मार्ग प्रदर्शन करता है, सुख पीडा को हो करना होता है। महाभारत के युद्ध में कृष्ण की स्थिति जानते हैं ? क्या प्रश्न है ? "अर्जुन ! मैं-केवल तेरा सारथी बनूंगा। शस्त्र नहीं उठाऊंगा। शस्त्र तुम्हें ही उठाने होने। पीडाओं से तुम्हें ही खड़ा होगा। शस्त्र के बारे अपने ही मास्टर पर भरोसा रखना होगा !" यह है कृष्ण की अमोघमिद्व प्रवृत्ति ! अर्जुन-रथप्रेष के अभाव दिवसी जैसे-जैसे की भाषा रही कादर्य है ! उनका भी कहना है कि 'हमने सारथी बनकर तुम्हें मार्ग बतला दिया है। अब हमारा प्रयत्न क्या समय तुम्हारे जीवन-रथ को हाथों में आगे-आगे बढ़ाने के लिए सदा नर्या



चा खोनते पैले विधूतखोनताः । बप्पननं च कर्न खः, पूर्ववद्  
तु न्तन् । अयवा वद खो, निक्काचिजं न्तन् । अयवा ऐया पयं खः,  
तन्तलरिकं न्तनिति—योग्यास्त्र स्तोपश्च वृत्ति ।

चतुर्विंशतिस्तव, ईयांपय सूत्र के विवेचन में निर्दिष्ट जिन मुद्रा  
अयवा योग मुद्रा से पढ़ना चाहिए । अस्त-म्यस्त दशा में पढ़ने से  
स्तुति का पूरा रस नहीं मिलता ।

**प्रविज्ञा-गृह**

कर्मणि भवे ! सामास्य,  
 मारुतञ्च त्रोगं पञ्चस्यामि ।  
 त्रायनियमं पञ्चस्यामामि ।  
 दृष्टिदृष्टि निरिदृष्टेण ।  
 मयण वायाण्, कण्ण ।  
 न कर्मणि, न कारवामि ।  
 नमस् नम ! पञ्चस्यामामि,  
 निरिदृष्टेण, मयिदृष्टेण,  
 मयिदृष्टेण वायाणामि ।

**उपनिषद्**

[illegible]



न करोमि=न स्वयं करूंगा	निन्दामि=आत्मसाक्षी से निंदा करता हूँ
न कारयेमि=न दूसरों से कराऊंगा	मरिहामि=आपकी साक्षी से गहरा करता हूँ
भवे=हे भगवन् !	अन्त्याणं=अपनी आत्मा को
तस्य=अतीत में जो भी पाप कर्म किया हो, उसका	वोस्तिरामि=बोसराता हूँ, त्यागता हूँ
पादिकनानि=प्रतिकर्मण करता हूँ	

### भावार्थ

हे भगवन् ! मैं सामायिक ग्रहण करता हूँ, पापकारी क्रियाओं का परित्याग करता हूँ ।

जब तक मैं दो षड़ी के नियम की उपासना करूँ, तब तक दो करण [करना और करना] और तीन दोष से=मन, वचन और काय से पाप-कर्म न स्वयं करूँगा और न दूसरे से कराऊँगा ।

[जो पाप कर्म चलते हो गए हैं, उनका] हे भगवन् ! मैं प्रतिकर्मण करता हूँ, अपनी सत्ता से निंदा करता हूँ, आपकी सत्ता से गहरा करता हूँ । अन्त में मैं अपनी आत्मा को पाप बदामर में वोस्तिरता हूँ=अलग करता हूँ । अथवा पापकर्म करनेवाली अपनी भूतकालीन नलिन आत्मा का त्याग करता हूँ, नया पवित्र जीवन ग्रहण करता हूँ ।

### विवेचन

जब तक जो सुख भी विधि-विधान किया जा रहा था, वह सब सामायिक ग्रहण करने के लिए करने वालों के लिए करना था । अतएव ऐसा पथिकी सूत्र के द्वारा कुछ पापों की आज्ञाचना करने के बाद, तथा कायोत्सर्ग में एवं सुखे रूप में लोगस्त सूत्र के द्वारा अन्तर्हृदय का पाप काजिना धो देने के बाद, सब धोर से विमुक्त आत्म-भूमि में सामायिक का बोधारोपण, उक्त 'करोमि भवे' सूत्र के द्वारा किया जाता है ।

सामायिक क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर 'करोमि भवे' के मूल पाठ

में स्पष्ट रूप से दे दिया गया है। सामायिक प्रत्याख्यान-स्वरूप है, संवररूप है। अतएव कम-से-कम दो घड़ी के लिए पापरूप व्यापारों का, क्रियाओं का, प्रेरणों का प्रत्याख्यान—त्याग करना, सामायिक है।

साधक प्रतिज्ञा करता है, हे भगवन् ! जिनके कारण अन्तर्द्वेष पाप मूल से मलिन होता है, आत्म-शुद्धि का नाश होता है, उन मन, वचन और शरीर रूप तीनों योगों की दुष्प्रवृत्तियों का स्वीकृत निवम पर्यन्त त्याग करता हूँ। अर्थात् मनसे दुष्ट चिन्तन नहीं करूँगा, वचन से असत्य तथा कटु-भाषण नहीं करूँगा, और शरीर से किसी भी प्रकार का दुष्ट आचरण नहीं करूँगा। मन, वचन, एवं शरीर की अशुभप्रवृत्तिमूलक चंचलताओं को दूर कर अपने आपको स्वस्वरूप में स्थिर तथा निश्चल बनाता हूँ, आत्म-शुद्धि के लिए आध्यात्मिक क्रिया की उपासना करता हूँ, भूलकाष्ठ में किए गए पापों से प्रति क्षमण के द्वारा निवृत्त होता हूँ, आलोचना एवं पश्चात्ताप के रूप में आत्ममाफी में निम्ना तथा आवकीसाफी से गहरी करता हूँ, पापाकार-

पाठक समझ गए होंगे कि—कितनी महत्त्वपूर्ण प्रतिज्ञा है। सामायिक का आदर्श केवल केवल बदलना ही नहीं, जीवन को बदलना है। यदि सामायिक ग्रहण करके भी वही बात बना रही, वही प्रवृत्ति बना रही, वही क्रोध, मान, माया और लोभ की काश्मिरा रही तो फिर सामायिक करने से लाभ क्या ? खैर है कि आज कल के प्रसार में, रात ड्रैम में, समा-रिक प्रपञ्च में रहते रहते जीव निरव प्रति सामायिक करते हुए भी सामायिक के अद्भुत आधौकिक सम-स्वरूप को नहीं देख पाते हैं। यही कारण है कि—वर्तमान युग में सामायिक के द्वारा आत्म-मोक्ष के दर्शन करने वाले विरले ही आत्मशास्त्री साज्जन मिलते हैं।

सामायिक में जो पापत्याग का त्याग बतलाया गया है, वह कितने मोक्षी की है! उक्त उक्तके उत्तरमें कहना है कि मुख्य रूप से त्याग के दो

मार्ग हैं—‘सर्व विरति और देश विरति ।’ सर्व विरति का अर्थ है—  
 ‘सर्व अंग में त्यागना ।’ और देश विरति का अर्थ है—‘कुछ अंग में  
 त्यागना ।’ प्रत्येक नियम के तीन योग—मन, वचन, शरीर और तीव्र  
 करण=कृत, कारित, अनुमत्—सब मिलकर अधिक से अधिक नौ अंग  
 होते हैं । अस्तु, जो त्याग पूरे नौ अंगों से किया जाता है, वह सर्व विरति  
 और जो नौ में से कुछ भी कम छाठ, साठ, या धृः आदि अंगों से किया  
 जाता है, वह देश विरति होता है । साधू की सामान्यिक सर्व विरति  
 है; अतः वह तीन करण और तीन योग के नौ अंगों से समस्त पाप  
 व्यापारों का यावज्जीवन के लिए त्याग करता है । जब कि गृहस्थ की  
 सामान्यिक देश विरति है, अतः वह पूर्ण त्यागी न बनकर केवल धृःअंगों  
 से, अर्थात् दो करण तीन योग से दो षट्ठी के लिये पापों का परित्याग  
 करता है । इसी बात को लक्ष्य में रखते हुए प्रतिज्ञा पाठ में कहा गया  
 है कि ‘दुषिहं त्रिविहेयं ।’ सावध योग न स्वयं करुंगा और न दूसरों से  
 कराऊंगा, मन, वचन, एवं शरीर से ।

दो करण और तीन योग के संनिभय से सामान्यिक रूप प्रत्या-  
 न्याय विधि के धृः प्रकार होते हैं—

- (१) मन से करुं नहीं ।
- (२) मन से कराऊँ नहीं ।
- (३) वचन से करुं नहीं ।
- (४) वचन से कराऊँ नहीं ।
- (५) कर्मा से करुं नहीं ।
- (६) कर्मा से कराऊँ नहीं ।

शास्त्रीय परिभाषा में उक्त धृः प्रकारों को षट्कोटि के नाम से  
 जिला गया है । साधू का सामान्यिक अठारह कोटि से होता है; उसमें  
 सावध व्यापार का अनुमोदन तक भी त्यागने के लिए तीन कोटियाँ  
 और होती हैं; परन्तु गृहस्थ की परित्यागिनी कुछ ऐसी है कि—वह  
 संसार में रहते हुए पूर्ण त्याग के उच्च पथ पर नहीं चढ़ सकता । अतः



शुरू का देना चाहिए । वीतराग देव हमारे हृदय की सब भावनाओं के देया हैं, उनसे हमारा कुछ भी छुपा हुआ नहीं है; अतः उनकी साक्षी से धर्म साधन करना, हमें आध्यात्मिक क्षेत्र में बड़ी बलवती प्रेरणा प्रदान करता है, सतत जागृत रहने के लिए सावधान करता है । वीतराग भगवान को सर्वज्ञता और उनकी साक्षिता हमारी प्रत्येक धर्म क्रियाओं में रहे हुए दम्भ के विष को दूर करने के लिए महान् अमोघ मंत्र है ।

‘सावज्जं जोगं पच्चस्तानि’ में जाने वाले सावज्ज शब्द पर भी विशेष लक्ष्य रखने की आवश्यकता है । सावज्ज का संस्कृत रूप सावय है । सावय में दो शब्द हैं ‘स’ और ‘अवय’ । दोनों मिलकर सावय शब्द बनता है । सावय का अर्थ है पाप सहित । अतः जो कार्य पाप सहित हों, पाप क्रिया के बन्ध करने वाले हों, आत्मा का पतन करने वाले हों, सामायिक में उन सब का त्याग आवश्यक है । परन्तु कुछ सज्जन कहते हैं कि—सामायिक करते समय जीव-रक्षा का कार्य नहीं कर सकते, किन्हीं की दया नहीं पा सकते ।’ इस सम्बन्ध में उनका अभिप्राय यह है कि ‘सामायिक में किसी पर राग द्वेष नहीं करना चाहिये । और जब हम किसी मरते हुए जीव को बचावेंगे तो अचरित उस पर रागभाव आएगा । बिना रागभाव के किसी को बचाया नहीं जा सकता ।’ इस प्रकार उनकी दृष्टि में किसी मरते हुए जीव को बचाना भी सावय योग है ।

प्रस्तुत भ्रान्त धारणा के उत्तर में निवेदन है कि सामायिक में सावय योग का त्याग है । सावय का अर्थ है—पापमय कार्य । अतः सामायिक में जीव-हिंसा का त्याग ही अनीष्ट है, न कि जीव-दया का । क्या जीव-दया भी पापमय कार्य है ? यदि ऐसा है, तब धर्म के क्षेत्र में धर्म का कुछ अर्थ ही नहीं रहेगा । दया तो मानव हृदय के कोमल भाव की पूर्ण सम्पत्ति के अस्तित्व की सूचना देनेवाला पञ्चैतिक धर्म है । जहां दया नहीं, वहाँ धर्म तो क्या, मनुष्य की साधारण मनुष्यता भी न रहेगी । जीव-दया, जैन धर्म का तो भाग्य है । सम्मता के आदिकार से जैन धर्म

की महत्ता तथा के कारण ही संसार में सुप्रसिद्ध रही है।

अब रहा राग-भाव का प्रश्न। इस सम्बन्ध में कहना है कि राग मोह के कारण होता है। जहाँ संसार का अवनता स्वार्थ है, कषाक-मात्र है, वहाँ मोह है। अब हम सामाजिक में किसी भी प्राणी की, वह भी बिना किसी स्वार्थ के, केवल हृदय की स्वभावतः उद्बुद्ध हुई अनु-कम्पा के कारण तथा करते हैं तो मोह क्षिप्त हो जाता है। राग भाव की कहां स्थान मिलता है? जीवतत्वा में रागभाव की कल्पना कदा बुद्धि का अतीत है, आध्यात्मिकता का नग्न उपहास है। हमारे तैत्तिरीय सूत्र जीवतत्वा आदि सम्प्रभूति में भी रागभाव के होने का अधिक मोह मचाते हैं। मैं उनसे पूछना चाहता हूँ—आप साधुओं की सामाजिक रही है या गृहस्थ की? आप मानते हैं साधुओं की सामाजिक रही है, क्योंकि वह सब आदि की है और वास्तविकता की है। इस पर कहना है कि आप अपनी सब कोटि की सर्वोच्च सामाजिक में भूषण करने पर आशा के द्विज प्रयत्न करने हैं, जोरजोर से हैं और जाने हैं, वह रागभाव नहीं होता? राग होने पर अपने शरीर को सार संभाव करने है, जीवित आत्मा है, वह रागभाव नहीं होता? जीवित आत्मा में प्राण बंधने पर कर्मकाण्ड होता है, मर्त्य से बंधने का प्रयत्न करते हैं, वह रागभाव नहीं होता? राग होने पर आश्रय करते हैं, कहीं-कहीं सोने रहने हैं, वह रागभाव नहीं होता? रागभाव होता है बिना किसी स्वार्थ के? आहमात्रा के किसी भाव का बर्तान से? वह कहीं का दूरव्यवहार है? आप कहते कि साधुद्वारा राग की सब प्रवृत्तियाँ निष्काम भाव से होती हैं, अब उनसे रागभाव नहीं होता। मैं कहूँगा कि सामाजिक आदि कम बिना से, अथवा किसी भी समस्त किसी जीव की। वह कर रहा की निष्काम प्रवृत्ति है, अतः वह कर्म-विहीन का कारण है, राग का कारण नहीं। किसी भी अनात्मिक वर्तित प्रवृत्ति में रागभाव की उत्पत्ति अनात्मक के वर्तित अभाव है। यदि इसी प्रकार रागभाव जाता मान, वह भी कहीं का दूरव्यवहार नहीं होता, इस कहीं की राग से नहीं बन सकते।

अतः राग का मूल मोह में, आसक्ति में, संसार की वासना में है, जीव रक्षा आदि धर्म प्रवृत्ति में नहीं। जो सारे जगत के साथ एक तार हो गया है, घलित विश्व के प्रति निष्काम एवं निष्कपट भाव से मनता की अनुभूति करने लग गया है, वह प्राप्ति मात्र के दुःख को अनुभव करेगा, उसे दूर करने की यथाशक्ति प्रयत्न करेगा, फिर भी बेलाग रहेगा, राग में नहीं फँसेगा।

आप कह सकते हैं कि साधक की भूमिका साधारण है, अतः वह इतना निःस्पृह एवं निर्मोही नहीं हो सकता कि जीवरक्षा करे और राग-भाव न भस्मे। कोई महान आत्मा ही इस उच्च भूमिका पर पहुँच सकता है, जो दुःखित जीवों की रक्षा करे और वह भी इतने निःस्पृह भाव से, एवं स्वल्प उद्विग्न से करे कि उसे किसी भी प्रकार के राग का स्पर्श न हो। परन्तु साधारण भूमिका का साधक तो रागभाव से अस्पृष्ट नहीं रह सकता। इसके उत्तर में कहना है कि अज्ञा आपकी बात ही सही, पर इसमें हानि क्या है ? क्योंकि साधक की आप्तात्मिक दुर्बलता के कारण यदि जीवदया के समय रागभाव हो भी जाता है तो वह पवन का कारण नहीं होता, प्रत्युत पुण्यानुबन्धी पुण्य का कारण होता है। पुण्यानुबन्धी पुण्य का अर्थ है कि अशुभ कर्म की अधिकांश में निर्जरा होता है और शुभ कर्म का बन्ध होता है। वह शुभ कर्म यहाँ भी सुख-जनक होता है और भविष्य में=जन्मान्तर में भी। पुण्यानुबन्धी पुण्य का कर्ता सुख पूर्ण मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। यह उहाँ भी जाता है, इच्छालुतात् परैरयं प्रसन्न करता है और उस परैरयं को स्वयं भी भोगता है एवं उससे जन-कल्याण भी करता है। जैन धर्म के तीर्थंकर इसी उच्च पुण्यानुबन्धी पुण्य के भागी हैं। तीर्थंकर नाम मोक्ष उत्कृष्ट पुण्य की दशा में प्रसन्न होता है। आप को जानून है, तीर्थंकर नाम मोक्ष कैसे बंधता है ? अतिहन्त सिद्ध भगवान का स्तुतान करने से, शान दर्शन की आराधना करने से, सेवा करने से आदि आदि। इसका अर्थ तो यह हुआ कि अतिहन्त सिद्ध भगवान की स्तुति करना भी राग





है। अतः आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करना है कि कौन कार्य निन्दनीय है और कौन नहीं ? इसका सीधा सा उत्तर है कि जिन कार्यों को शृष्ट-भूमि में कषाय भावना रहो हुई हो, वे निन्दनीय हैं और जिन कार्यों की शृष्ट-भूमि में कषाय भावना न हो, अथवा प्रशस्त उद्देश्य पूर्वक अल्प कषाय भावना हो तो वे निन्दनीय नहीं हैं। अस्तु तान्मायिक में साधक को वह कार्य नहीं करना चाहिए जो क्रोध, मान, आदि कार्मायिक परि-स्थिति के कारण होता है। परन्तु जो कार्य सनभाव के साधक हों, कषाय भाव को घटाने वाले हों, वे अरिहन्त सिद्ध को स्तुति, ज्ञान का अभ्यास, गुरुजनों का सत्कार, ध्यान, जीवदया, सत्य आदि अवश्य करायें हैं।

अस्तु सावर्ज्य अर्थ पर भी उन सज्जनों को विचार करना चाहिए, जो तान्मायिक में जीवदया के कार्य में पाप चलाते हैं। यदि तान्मायिक के साधक ने किसी ऊँचाई से पड़ते हुए अनभोल बालक को सावधान कर दिया, किसी अंधे धारक के आसन के नीचे दबते हुए जीर को बचा दिया, तो वहाँ निन्दा के योग्य कौनसा कार्य हुआ ? क्रोध, मान, नाप और लोभ में से कित्ति कषाय भाव का उदय हुआ ? किन्तु कषाय को तब परित्यजित हुई, जिससे एकान्त पान करने का रंघ हुआ ? किसी भी सत्य को समझने के लिए हृदय को निष्पक्ष एवं सरल बनाया ही होगा। जब तक निष्पक्षता के साथ दूरान शास्त्र को गंभीरता में नहीं उतरा जाएगा, तब तक सत्य के दूरान नहीं हो सकते। दूरान शास्त्र कहता है कि पाप के नान मात्र से भयभीत होने का आवश्यकता नहीं है। अत्येक कार्य में, प्रवृत्ति में यदि पाप ही देखेंगे तो फिर धर्म के दूरान कहां से होंगे ?

अतः सत्य बात तो यह है कि किसी भी प्रवृत्ति में स्वयं प्रवृत्ति के रूप में पाप नहीं है। पाप है उस प्रवृत्ति की शृष्ट-भूमि में रहने वाले स्वार्थ भाव में, कषाय भाव में, रान-द्वेष के दुर्भाव में। यदि यह सब कुछ नहीं है, साधक के हृदय में पवित्र एवं निर्मल कल्याण आदि का ही भाव है तो फिर किसी भी प्रकार का पाप नहीं है।

मूल पाठ में 'आय विपन्न' है, उससे दो धनी का अर्थ कैसे निकलता है ? आय विपन्न का भाव तो 'अब तक विपन्न है अबकाल ऐसा होगा है' इसका अर्थितार्थ तो यह हुआ कि यदि वेदवद या धर्म विपन्न आदि की सामाजिक करनी हो तो वह भी की जा सकती है।

उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि सामान्य साहित्य में सुदृष्ट को सामाजिक के साथ कर कोई विशेष उल्लेख नहीं है। सामान्य में कहा नहीं सामाजिक आदि का वर्णन आया है, वहाँ नहीं कहा है कि सामाजिक को प्रसार की है—इतिहास और वास्तविक, इतिहास और वास्तविक की होती है और वास्तविक वास्तविक की। परन्तु वास्तविक आचार्यों ने दो धनी का विपन्न निश्चित कर दिया है। इस विपन्न का अर्थ सामान्य-सम्बन्धी सम्बन्धों की दूर करना है। दो धनी का एक मुहूर्त हुआ है, अतः किसी भी सामाजिक करनी हो उसी दिशा में सामान्य के आगे मुहूर्त एक, मुहूर्त दो इत्यादि योजना आदि।

सामाजिक में दिना, अन्तर्गत आदि पाठ करने का अर्थ केवल एक और अर्थ केवल दो ही किया जाता है, अनुसूचित सूत्र होता है। वही प्रश्न है कि सामाजिक में पाठ करने के लिये करना नहीं और दूसरी व करवाना भी नहीं, परन्तु क्या पाठ करने का अनुसूचित किया भी संभव है ? यह तो कुछ उचित नहीं जान पड़ता। सामाजिक में दो दो योजना मानक दिया की प्रस्ताव करे, अन्तर्गत का सम्बन्ध करे, जोरी और योजना की योजना के लिए पाठ-पाठ करे, किसी को निश्चित करने के लिए 'एक अन्तर्गत किया' करे तो वह सामाजिक क्या हुई, एक उन्तर्गत का न उन्तर्गत आभा हो ही गया।

इस में निश्चित है कि सामाजिक में अनुसूचित अन्तर्गत सूत्र होता है अन्तर्गत अन्तर्गत अर्थ नहीं कि सामाजिक में दो दो योजना मानक करनी करे, अनुसूचित करे। सामाजिक में तो सामान्य के अन्तर्गत अन्तर्गत का कुछ भी अन्तर्गत करे कि अन्तर्गत आदि। सामाजिक में किसी भी अन्तर्गत का अन्तर्गत हो, क लिये करना है, क दूसरी की









मन्त्रे इत्येवमत्र कर्तव्यं किं कर्तव्यं कर्तव्यं—'कर्मण्येवाङ्मनो भक्त्या चतुर्वर्ण्ये' इति।  
 अथ चतुर्वर्ण्ये—'कर्मण्येवाङ्मनो भक्त्या चतुर्वर्ण्ये' इति।

[illegible]





सामाजिक सूत्र का प्रायः प्रस्तुत प्रतिज्ञा सूत्र ही है। अतएव इस पर काफ़ी विस्तार के साथ लिखा है, और इतना लिखना आवश्यक भी था। अब उपसंहार में केवल इतना ही निवेदन है कि यह सामाजिक एक प्रकार का आध्यात्मिक व्यापान है। व्यापान भले ही थोड़ी देर के लिए हो, दो घण्टों के लिए ही हो परन्तु उसका प्रभाव और खान स्थायी होता है। जिस प्रकार मनुष्य प्रातःकाल उठते ही कुछ देर व्यापान करता है, और उसके फलस्वरूप दिन भर शरीर की स्थिति एवं शुद्धि बना रहती है, उसी प्रकार सामाजिक रूप आध्यात्मिक व्यापान भी साधक को दिनभर की प्रवृत्तियों में नव की स्थिति एवं शुद्धि को बनाए रखता है। सामाजिक का उद्देश्य केवल दो घण्टों के लिए नहीं है, मनुष्य जीवन के लिए है। सामाजिक में दो घण्टों बैठकर धार धरना आदर्श स्थिर करते हैं, बाह्यभाव से हटकर स्वभाव में रम्य को कला बनते हैं। सामाजिक का अर्थ ही है—आत्मा के साथ अर्थात् अपने आत्मा के साथ एक रूप हो जाना, समभाव ग्रहण कर लेना, राग-द्वेष को द्रोह देना। आचार्य पूज्यदास कहते हैं—‘सन्’ एकी भावे बतते एकीक-अपवन्धानं समय। समय एव सामाजिकम्—सर्वाथं सिद्धि। हाँ तो, अपनी आत्मा के साथ एक रूपा केवल दो घण्टों के लिए ही नहीं, जीवनभर के लिए प्राप्त करना है। राग द्वेष का त्याग दो घण्टों के लिए कर देने भर से काम नहीं चलेगा, इन्हीं तो जीवन के हर क्षेत्र से सदा के लिए सदैवना होगा। सामाजिक जीवन के समस्त सद्गुणों को आधार माने हैं। आधार को ही मानूँ तो साक्षिष्ठ नहीं, विलुप्त होता आदि। साधना के अर्थकोष को समर्थित रखना, बड़ा भार है। साधना तो जीवन के लिए है, अतएव जीवन भर के लिए अविच्छिन्न अविच्छिन्न के लिए है। देखना, साधना करना। साधना की शीला का धार स्वर कभी बन्द न होने पड़े—बन्द न होने पड़े। ‘सं’ है मनुष्य मनुष्य मनुष्य विस्तार में है, व्यापि में है, साधक में है, अन्य नहीं।

: १० :

## प्रथिपाठ-सूत्र

नमोत्पुणं अरिहताण, मगवताण ॥१॥

आइगराण, तित्थयराण, सुपंसंबुद्धाण ॥२॥

पुरिमुत्तमाण, पुरिस-सीहाण, पुरिस-वर-पुट-

रीयाण, पुरिसवर-गघहुत्पीण ॥३॥

ओगुत्तमाण, ओग—नाहाण,

ओग हियाण, ओग-वईयाण,

ओग-यग्गोयगराण ॥४॥

अमयदयाण चरुमुदयाण,

मम्मदयाण, मरणदयाण,

जीव-दयाण, बोहिदयाण ॥५॥

घम्मदयाण, घम्म-देमयाण, घम्मनायपाण,

घम्म-सारहीण, घम्मवर-आउरग-वक्कवहीण ॥६॥

अण्हिहय-वर-नाण-दमण-वराण,

विअट्ट-छउमाण ॥७॥

दिमाण, जावयाण, निन्नाण, तारयाण,

बुडाण, बोहयाण, मुग्गाण, धोययाण ॥८॥

सर्वलूनं, सर्वदरित्रीणं, त्रिवन्मलमलय-  
नन्तनस्तपनव्यावाहमपुणराविति सिद्धि-  
गइ-नानधेयं ठाणं संपत्ताणं,  
ननो जिजाणं जियनयाणं ॥६॥

शब्दार्थ

ननेयुरं=नमस्कार हो  
दरिदरं=दरिद्र  
भयंदां=भगवान को  
( भगवान् कैसे हैं ? )

प्राणारं=धर्म की प्राप्ति करने  
वाले

विपनरं=धर्म तीर्थ की स्थापना  
करने वाले

सं=सर्व हो

संशुभारं=सम्यग्बोध को देनेवाले

पुत्रिभनारं=पुरुषों में भेद

पुत्रिभनारं=पुरुषों में सिद्ध

पुत्रिभनारं=पुरुषों में भेद  
गन्धहस्ती

संशुभनारं=शोक में उषम

संशुभनारं=शोक के भाव

संशुभनारं=शोक के हितकारी

संशुभनारं=शोक में शोक

संशुभनारं=शोक में उषोड  
करनेवाले

दमनदमारं=दमन देनेवाले

चस्तुदमारं=नेत्र देनेवाले

मगदमारं=धर्ममार्ग के दाता

सत्तदमारं=शरय के दाता

जानदमारं=जीवन के दाता

बोदिदमारं=बोधि = सम्यक्त्व के  
दाता

धम्मदमारं=धर्म के दाता

धम्मदेवमारं=धर्म के उपदेष्टा

धम्मनाममारं=धर्म के वाचक

धम्मसारं=धर्म के सारथि

धम्मसरं=धर्म के भेद

वादिनं=वादि यदि का दण्ड  
करनेवाले

सककटं=सकटवादी

अनविदं=अविद्वत् तथा

सन्तारं=सन्तार शब्द शब्दों के

धरं=धर्म

विद्वज्जितं=द्विज से विद्वत्

विद्वज्जितं=विद्वत् के विद्वत्



जो श्रेष्ठ जनदरशन के धारण करनेवाले हैं, ज्ञानावरण आदि पाति कर्म के बन्धन प्रभु से रहित हैं।

स्वयं रणभेद के जीतनेवाले हैं, दूसरों को जीतनेवाले हैं, दूर-दूर-दूर से तर गए हैं, दूसरों को तरनेवाले हैं, स्वयं बोध पा चुके हैं, दूसरों को बोध देनेवाले हैं, स्वयं कर्म से मुक्त हैं, दूसरों को मुक्त करनेवाले हैं।

सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं। तथा शिव=कल्याणरूप अचल=स्थिर, अरुण=रोगरहित, अनन्त=अन्तरहित, अक्षय=क्षयरहित, अन्धकाराध=पाशा-नगररहित, अपुनरावृत्ति=पुनरागमन से रहित अर्थात् जन्म-मरण से रहित तदेवाति नामक स्थान को प्राप्त कर चुके हैं, भय के जीतनेवाले हैं, रणभेद के जीतनेवाले हैं—उन जिन भगवानों को मेरा नमस्कार हो।

### विवेचन

जैन धर्म की साधना अध्यात्म-साधना है। जीवन के कितने भी क्षेत्र में चलिए, कितने भी क्षेत्रों में काम करिए, जैन धर्म आध्यात्मिक-जीवन की महत्ता को भुला नहीं सकता है। प्रत्येक प्रवृत्ति के पीछे जीवन में पवित्रता का, उच्चता का और अखिल विध की कल्याणकारी नैतिक नैतिक स्वर संकुल रहना चाहिए। जहाँ यह स्वर नन्द रहा कि कल्याण पवनोन्मुख हो जायगा, जीवन के महान् आदर्श जुड़ा रहेगा, संसार का धंधेरी गलियों में भटकने लगेगा।

मानव हृदय में अध्यात्म-साधना को बढ़ावा देने के लिए, उसे सुदृढ़ एवं सफल बनाने के लिए भारतवर्ष को दार्शनिक विचारों द्वारा तीन मार्ग बताये हैं—भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग। वैदिक धर्म की शाखाओं में इनके समन्वय में काफ़ी नज़र देखा है। वैदिक धर्म विचारधारा के कितने ही संप्रदाय ऐसे हैं, जो इन तीनों को जोड़कर मानते हैं। वे कहते हैं कि—‘ननु एवम् एव एवम् एवम् एवम्’। ज्ञान और कर्म की क्या आराधना कर सकते हैं? उन्हें जो करने



नन्त्र को शिक्षा के लिए कर्म योग की साधना अपेक्षित है ।

जैन-दर्शन की अपनी मूल परिभाषा में उक्त तीनों को सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य के नाम से कहा गया है । आचार्य रत्नाकरविरचित्त्वार्थ सूत्र के प्रारंभ में ही कहते हैं—‘सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्र्ये मोक्ष-मार्गः ।’ अर्थात् सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य ही मोक्ष-मार्ग है । ‘मोक्ष-मार्गः’ यह जो एक यचनान्त प्रयोग है, वह यही ध्वनित करता है कि उक्त तीनों मिलकर ही मोक्ष का मार्ग है, कोई सा एक या दो नहीं । अन्यथा ‘मार्गः’ न कह कर ‘मार्गाः’ कहा जाता; बहु यचनान्त शब्द-प्रयोग किया जाता ।

यह ठीक है कि अपने-अपने स्थान पर तीनों ही प्रधान हैं, कोई एक मुख्य और गौण नहीं । परन्तु मानस शास्त्र की दृष्टि से एवं आत्मों के अनुशासन से यह तो कहना ही होगा कि आध्यात्मिक-साधना को यात्रा में भक्ति का स्थान कुछ पहले है । यहीं से भ्रष्टा की विनश्वर गंगा ज्ञान के दोनों योग धेड़ों को प्लावित, पल्लवित, पुष्पित एवं फलित करता है । भक्ति शून्य नीरस हृदय में ज्ञान और कर्म के कल्प-वृक्ष हर्षित नहीं पनप सकते । यही कारण है कि सान्नायिक सूत्र में सर्वभयन नवकार नन्त्र का उल्लेख आया है, उसके बाद सम्यक्त्वसूत्र, गुरु-गुण स्मरण सूत्र और गुरु-वन्दन सूत्र का पाठ है । भक्ति को वेगवती धारा यही तक समाप्त नहीं है । ज्ञान चलकर एक बार फल में तो दूसरी बार प्रकट रूप से चतुर्विंशतिस्तय सूत्र लोगत्स के पढ़ने का मंगल विधान है । लोगत्स मंत्रियोग का एक बहुत सुन्दर एवं मनोरम रेखाचित्र है । आराध्य देव के श्री चरणों में अपने भावुक हृदय को समस्त भ्रष्टा अर्पण कर देना, एवं उनके यथाए नार्य पर चलने का दृढ संकल्प रखना ही तो भक्ति है । और यह लोगत्स के पाठ में हर कोई भ्रष्टालु भक्त सहज ही पा सकता है । लोगत्स के पाठ से पवित्र हुई हृदय-भूमि में ही सान्नायिक का योजारोपण किया जाता है । पूर्व संनन का महान् कल्प वृक्ष इसी सान्नायिक के सूक्ष्म योज में





विभिन्न आदर्शों दुष्टों का अन्तिम सुन्दर परिचय दिया गया है। तीर्थंकर भागवत को स्तुति भी हो, और भाष-भाष उनके महाभाईस सदगुणों का वर्णन भी हो, यही नमो-पुण्य मूल का विशेषता है। 'महा-महा-सर्वगो-महादेव' कोकीरित यहाँ दृष्टव्यता अतिवर्ण हो जाती है। सुदृढ ने नमो-पुण्य में भगवान् के जिन अनुपम गुणों का समग्र गाव किया है, इन में प्रायःक गुण इतना विशिष्ट है, इतना प्रभावक है कि कुछ पूर्ण नहीं। भाव के लक्ष्य उत्पन्न हृदय से घात प्रायःक गुण पर विचार कोविष्ट, चिन्तन कोविष्ट, मनन कोविष्ट, धार को एक-एक क्षण में, एक-एक माया में अतीतिक प्रसन्नता भरा नम्र भावना। 'तुला तुला ध्यानं तुला न च तिम न च नरा' का महान् दार्शनिक शक्ति, यदि धार क्षण-क्षण में माया-माया में से अविच्छेद होता हुआ नुनता पावते हैं, तो अतिरिक्त नहीं, केवल नमो-पुण्य का ही भावना-भो हृदय में बैठ कोविष्ट। धारको इसी में सब कुछ मिल जायगा।

अतिहन्त—मातृता देव अतिहन्त होते हैं। अतिहन्त दुष्ट विना योतानता हो ही नहीं सकते। दोनों में कार्य-कारण का अद्भुत सम्बन्ध है। अतिहन्तता कारण है जो योतानता, उसका कार्य है। जैन धर्म नियम का धर्म है, पराधन कर नहीं। शत्रुओं को उद-मूल से नष्ट करने जाता धर्म है, उसको गुजाना करने जाता नहीं। यही कारण है कि सन्तुर् जैन-माहिष अतिहन्त और जिन के महातापस्य से प्रारम्भ होता है, और धन में इनसे हा सन्तुत होता है। जैन-धर्म का मूल मंत्र नरकार है, उनमें भी सर्व-प्रधान 'नमो-अतिहन्ताय' है। जैन-धर्म की साधना का मूल सम्मग दर्शन है उसके प्रतिष्ठा स्रष्टा भी सर्व-प्रधान 'अतिहन्तो मह देवो' है। अतएव प्रस्तुत नमो-पुण्य स्रष्टा का प्रारम्भ भी 'नमो-पुण्य अतिहन्ताय' से ही हुआ है। जैन सत्कृति और जैन विचार-धारा का मूल अतिहन्त हा है। जैन-धर्म की सन्तुत के लिए अतिहन्त शब्द का सन्तुतता, अत्यावश्यक है।

अतिहन्त का अर्थ है—'शत्रुओं को हनन करने जाता। धार प्रन









पाठक प्रश्न कर सकते हैं कि धर्म तो अनादि है, उसकी आदि कैसी उत्तर है कि धर्म अजरय अनादि है। जब से वह ससार संसार का बन्धन है, तभी से धर्म है, और उसका एक मंत्र भी। जब ससार अनादि है, तो धर्म भी अनादि ही हुआ। परन्तु यही धर्म की आदि करने वाला कहा है, उसका अभिप्राय यह है कि वह हस्त भगवान् धर्म का निर्माण नहीं करते, प्रत्युत धर्म की व्यवस्था। धर्म की मर्यादा का निर्माण करते हैं। अपने-अपने युग में धर्म में विकार आ जाते हैं, धर्म के नाम पर जो मिथ्या आचार फैल जाते उनकी शुद्धि करके नये सिरे से धर्म की मर्यादाओं का विधान करते हैं। अतः अपने युग में धर्म की आदि करने के कारण अरिहन्त भवान् 'आदिकर' कहलाते हैं।

हमारे विद्वान् जैनाचार्यों की एक परम्परा यह भी है कि अरिह भगवान् धृत धर्म की आदि करने वाले हैं, अर्थात् धृत धर्म निर्माण करने वाले हैं। जैन साहित्य में आचारसंग्रह आदि धर्म सूत्रों धृत धर्म कहा जाता है। भाव यह है कि तीर्थंकर भगवान् पुराने शास्त्रों के अनुसार अपनी साधना का मार्ग नहीं तैयार करते। उन जीवन, अनुभव का जीवन होता है। अपने आत्मालुभव के द्वारा अपना मार्ग तय करते हैं और फिर उसी को जनता के समक्ष रखते हैं। पुराने पौधे पत्थरों का भार छाड़कर चलना, उन्हें अभीष्ट नहीं है। हर एक युग का द्रव्य, स्थ, काल, और भाव के अनुसार अपना अलग शास्त्र होना चाहिए, अलग विधि विधान होना चाहिए। उन जनता का वास्तविक हित हो सकता है, सम्बन्ध नहीं। जो पुराने पौधे युग की अपनी दुरुद्ध गुणियों को नहीं मुक्त कर सकते, वर्तमान परिस्थितियों पर प्रकाश नहीं डाल सकते, वे शास्त्र मानवजाति अपने वर्तमान युग के लिए अकिञ्चिद्वर हैं, सम्बन्ध नहीं है। कारण है कि तीर्थंकर भगवान् पुराने शास्त्रों के अनुसार हूबहू न स्वयं चलते हैं, न जनता को चलते हैं। स्वानुभव के एक पर नये शास्त्र

और ये विधि-विधान निमाण कर के जनता का बख्साव्य करते हैं, यह वे धार्मिक कहलाते हैं। उक्त विवेचन पर से उक्त साजसों का समाधान भी हो जायगा, जो यह कहते हैं कि साजसों जो तब सारन मिल रहे हैं, वे भगवान् महाशय के उपदिष्ट ही मिल रहे हैं, भगवान् परवशाय धार्मिक के क्यों नहीं मिलते ?

तीर्थकार—धर्मद्वारा भगवान् तीर्थकार कहलाते हैं। तीर्थकार का अर्थ है—तीर्थ का निर्माता। जिसके द्वारा ससार रूप दुनोर-भाषा का वह सुविधा के साथ तिरा जाय, वह धर्म तीर्थ कहलाता है। और इस धर्म-तीर्थ की स्थापना करने के कारण भगवान् महाशय धार्मिक तीर्थकार कहे जाते हैं।

पाठक जानते हैं, नदी का प्रवाह ठहरना कितना कठिन कार्य है। सधारण मनुष्य तो देखकर ही भयभीत हो जाते हैं, चन्द्र पुत्रों का सारन ही नहीं कर पाते। परन्तु जो अनुभवी ठहराक हैं, वे साहस करके चन्द्र पुत्रों हैं, और मालूम करते हैं कि किस ओर पानी का बग कम है; कहा पानी प्रियुद्धा है; कहा जलपर जाय नहीं है, कहा भंवर और गत आदि नहीं है, अतः कौनसा मार्ग सर्व साधारण जनता को नदी पार करने के लिए ठीक रहेगा ? ये साहसी ठहराक ही नदी के घाटों का निर्माण करते हैं। संस्कृत भाषा में घाट के लिए तीर्थ शब्द प्रयुक्त होता है। अतः ये घाट के बनाने वाले ठहराक, लोक में तीर्थकार कहलाते हैं। हमारे तीर्थकार भगवान् भी इसी प्रकार घाट के निर्माता थे, अतः तीर्थकार कहलाते थे। आप जानते हैं, यह ससार रूपी नदी के कितनी भयंकर हैं ? मोघ, भान, माया, लोभ आदि के हजारों विकार-रूप मगरमध्य, भंवर और गत हैं कि, जिन्हें पार करना सहज नहीं है। साधारण साधक इन विकारों के भंवर में फंस जाते हैं, और दूर जाते हैं। परन्तु तीर्थकार ने सर्वसाधारण साधकों की सुविधा के लिए धर्म का घाट बना दिया है, सदाचाररूपी विधिविधानों की एक निश्चित योजना तैयार करदी है, जिससे हरकोई साधक सुविधा के

के साथ इस भीषण नदी को पार कर सकता है ।

तीर्थ का अर्थ पुत्र भी है । बिना पुत्र के नदी से पार होना बड़े से बड़े बलवान के लिए भी असम्भव है, परन्तु पुत्र बन जाने पर साधनरूप दुर्बल, रोमी बाढ़ी भी बड़े मानन्द से पार हो सकता है । और तो क्या मन्ही सी चींटी भी हथर से उधर पार हो सकती है । हमारे तीर्थकर यस्तुतः संसार की नदी को पार करने के लिए धर्म का तीर्थ बना गए हैं, पुत्र बना गए हैं । साधु, साध्वी, भावक और भाविकारूप यस्तुर्विध संघ की धर्म साधना, संसार सागर से पार होने के लिए पुत्र है । अपने सामर्थ्य के अनुसार इनमें से किसी भी पुत्र पर चढ़िए, किसी भी धर्म साधना को अपनाएँ, चाप परखी पार हो जायेंगे ।

आप प्रश्न कर सकते हैं कि इस प्रकार धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले तो भारतवर्ष में सर्वप्रथम श्री आपमदेवजी हुए थे; अतः वे ही तीर्थकर कहलाने चाहिए । दूसरे तीर्थकरों को तीर्थकर क्यों कहा जाता है ? उत्तर में निवेदन है कि प्रत्येक तीर्थकर अपने पुत्र में प्रयत्नित धर्मपरम्परा में समयानुसार परिवर्तन करता है, अतः नये तीर्थ का निर्माण करता है । पुराने घाट जब खराब हो जाते हैं, तब नया घाट हूँटा जाता है न ? इसी प्रकार पुराने धार्मिक विधानों में विकृति आ जाने के बाद नये तीर्थकर, समाज के समक्ष नए धार्मिक विधानों की योजना उपस्थित करने हैं । धर्म का प्रायः बही होता है, कलेवर बदल देते हैं । जैन समाज प्रारम्भ से केवल धर्म की मूल भावनाओं पर शिरास कर रहा है, न कि पुराने शब्दों और पुरानी पद्धतियों पर । जैन तीर्थकरों का शासन-भेद, उदाहरण के लिए भगवान् पारश्वनाथ और भगवान् महावीर का शासन भेद, मेरी उपर्युक्त मान्यता के लिए उदाहरण साध है ।

राजमन्दु—तीर्थकर भगवान् स्वयमन्दु कहलाने हैं । स्व

का अर्थ है—अपने आप प्रबुद्ध होने वाले, बोध पाने वाले होने वाले । हजारों लोग ऐसे हैं, जो जगाने पर भी नहीं जागने



उनकी अज्ञान निद्रा अत्यन्त गहरी होती है। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो स्वयं तो नहीं जाग सकते, परन्तु दूसरों के द्वारा जगाये जाने पर अचरम जाग उठते हैं। यह ऐसी साधारण बातों की है। तीसरी ऐसी हम महापुरुषों की है, जो स्वयमेव समय पर जाग जाते हैं, मोह-माया की निद्रा त्याग देते हैं, और मोहनिद्रा में प्रभुत्व विरक्तों की अपनी एक जड़कार से जगा देते हैं। हमारे तीर्थंकर इसी ऐसी के महापुरुष हैं। तीर्थंकर देव किसीके बताए हुए पथ निर्धारित पथ पर नहीं चलते। वे अपने और विरक्त के उत्थान के लिए स्वयं अपने आप अपने पथ का निर्माण करते हैं। तीर्थंकर को पथ प्रदर्शन करने के लिए न कोई गुरु होता है, और न कोई शिष्य। यह स्वयं ही पथ प्रदर्शक है, स्वयं ही हम पथ का धारक हैं। यह अर्थात् पथ स्वयं आज निकालता है। स्वा-पन्नमन का यह महान् आदर्श, तीर्थंकरों के जीवन में बूट-बूट कर भरा होता है। तीर्थंकर देव सभी गली और स्थल हुई पुरानों परम्पराओं को विन्न-भिन्न कर अनहित के लिए नई परम्पराएं, नई योजनाएं स्थापित करते हैं। उनकी प्राति का पथ स्वयं अपना होता है, वह कभी भी अनुसरणी नहीं होता।

पुरुषोत्तम—तीर्थंकर भगवान् पुरुषोत्तम होते हैं। पुरुषोत्तम, अर्थात् पुरुषों में उत्तम=प्रेष्ठ। भगवान् के क्या बाह्य और क्या आन्तरिक, दोनों ही प्रकार के गुण अर्जाकिक होते हैं, असाधारण होते हैं। भगवान् का रूप त्रिभुवनमोहक। भगवान् का तेज सूर्य को भी हल-प्रभ बना देने वाला। भगवान् का मुखचन्द्र सुर-नर-नाग नयन मनहार! भगवान् के दिव्य शरीर में एक से एक उत्तम एक हजार आठ लक्ष होते हैं, जो हर किन्ना दर्शक को उनकी महत्ता की सूचना देते हैं। चन्द्रवंदनाराय सहनन और सनचतुस्य संस्थान का सौंदर्य तो अत्यन्त ही अद्भुत होता है। भगवान् के परमौदारिक शरीर के समस्त देवताओं का दीप्तिमान वैश्रिय शरीर भी बहुत तुच्छ एवं नगण्य मालूम देता है। यह तो है बाह्य ऐश्वर्य की बात। अब जरा अन्तरंग ऐश्वर्य की



रैरा करने वाले मन के विकार ही तो हैं। अतः उनका आक्रमण व्यक्ति पर न होकर व्यक्ति के विकारों पर होता है। अपने दया, प्रेमा आदि सद्गुणों के प्रभाव से वे दूसरों के विकारों को शान्त करते हैं, फलतः दुष्ट को भी मित्र बना लेते हैं। तीर्थंकर भगवान् उक्त विवेचन के प्रकार में पुरुषसिंह हैं, पुरुषों में सिंह की वृत्ति रखते हैं।

पुष्कर-पुष्कर-सीर्थंकर भगवान् पुरुषों में श्रेष्ठ पुष्कर-कमल के समान होते हैं। भगवान् को पुष्कर-कमल की उपमा बड़ी ही सुन्दर दी गई है। पुष्कर-कमल का नाम है। दूसरे कमलों की अपेक्षा से कमल सौन्दर्य एवं सुगन्ध में श्रेष्ठ उत्कृष्ट होता है। सम्पूर्ण सरोवर एक से कमल के द्वारा इतना सुगन्धित हो सकता है, जितना अन्य हजारों कमलों से नहीं हो सकता। दूर-दूर से भ्रमर-युग्म सुगन्ध से आकर्षित होकर चले आते हैं, फलतः कमल के आस-पास भँवरों का एक विराट मेला-सालगा रहता है। और इधर कमल बिना किसी स्वाभिमानी के दिन रात अपना सुगन्ध विश्व को अर्पण करता रहता है। न उसे किसी प्रकार के बदले की भूख है, और न कोई अन्य वासना। पुष्प-पाप नूक सेवा करना ही, कमल के उत्पन्न जीवन का ध्येय है।

तीर्थंकरदेव भी मानव-सरोवर में सर्व-श्रेष्ठ कमल माने गए हैं। उन के आध्यात्मिक जीवन की सुगन्ध अनन्त होती है। अपने समय में वे पहिला और सत्य आदि सद्गुणों की सुगन्ध सर्वत्र फैला देते हैं। पुष्कर-कमल की सुगन्ध का अस्तित्व तो वर्तमान काजाल-ध्वरेन ही होता है, किन्तु तीर्थंकर देवों के जीवन की सुगन्ध तो हजारों-लाखों वर्षों बाद आज भी भरपूर उनका के हृदयों को महका रही है, छाज ही नहीं, भविष्य में भी हजारों वर्षों तक इसी प्रकार महकाती रहेगी। महापुरुषों के जीवन की सुगन्ध को न दिया है। अविद्यमान कर सकता है, और न काज ही। जिस प्रकार पुष्कर-कमल सेव होता है, उसी प्रकार भगवान् का जीवन भी योवराग भाव के कारण पूर्णतया विमल सेव होता है। उसने कदापि भाव का जरा भी मज नहीं होता। पुष्कर-कमल के समान भगवान् भी

नि स्वार्थभाव से जनता का कल्याण करते हैं, उन्हें किसी प्रकार की भी सांसारिक वायना नहीं होनी। कमल अज्ञान-अवस्था में ऐसा करता है, जब कि भगवान् ज्ञान की अवस्था में निष्काम जनकल्याण की वृत्ति से करते हैं। यह कमल से भगवान् की उच्च विशेषता है। कमल के पास भ्रमर ही आते हैं, जब कि तीर्थंकरदेव के आध्यात्मिक जीवन की सुगन्ध से प्रभावित होकर तीन लोक के प्राणी उनके चरणों में उपस्थित हो जाते हैं। कमल की उपमा का एक भाव और भी है, यह यह कि भगवान् तीर्थंकर दशा में संसार में रहते हुए भी संसार की बासनाओं से पूर्णतया निःशेष रहते हैं, जिस प्रकार पानी से सघना सब भरे हुए सरोवर में, रहकर भी कमल पानी में लिस नहीं होता। कमल-पत्र पर पानी की पृंद रेखा नहीं डाल सकती, यह आगम-प्रसिद्ध उपमा है।

पुण्डरीक-गन्ध हस्ती—भगवान् पुरुषों में श्रेष्ठ गन्ध-हस्ती के समान हैं। मिट्टी की उपमा वीरता की सूचक है, गन्ध की नहीं। और पुण्डरीक की उपमा गन्ध की सूचक है, वीरता की नहीं। परन्तु गन्ध-हस्ती की उपमा सुगन्ध और वीरता दोनों की सूचना करती है।

गन्ध हस्ती एक महान् विजयगन्ध हस्ती होता है। उसके गण्डस्थल से सदैव सुगन्धित मद्<sup>१</sup> जल बहना रहता है और उस पर भ्रमर-समूह गुंजते रहते हैं। गन्ध हस्ती की गन्ध इतनी तीव्र होती है कि कुछ भूमि में जाने ही उसकी सुगन्ध-मात्र से दूमेरे हजारों हाथी प्रसन्न होकर भागने लगते हैं, उसके समक्ष कुछ दूर के लिए भी नहीं रुक सकते। यह गन्ध हस्ती भारतीय साहित्य में बड़ा वंगलकारी माना गया है। जहाँ यह रहता है, उस प्रदेश में अतिवृष्टि और अनादृष्टि आदिके उपद्रव नहीं होते। मदा मुभिष्य रहता है, कभी भी दुर्भिष्य नहीं पड़ता।

तीर्थंकर भगवान् भी मानवजाति में गन्ध हस्ती के समान हैं। ज्ञान का प्रताप और तेज इतना महान् है कि उनके समक्ष अज्ञान, वैर-विरोध, अज्ञान और पाप्मन आदि किनारे ही क्यों न भयंकर उठर ही नहीं सकते। चिरकाल से फैले हुए मिथ्या विरवास, भग-

बार को यहाँ के समस्त पुरुषों का दिव्य-मन्त्र हो जाते हैं, सब धोर  
जल का सत्कार साक्षात् स्थापित हो जाता है।

भगवान् मन्त्र इत्यादि के समस्त विषय के विद् मंगलकारी हैं। जिस  
स्थान में भगवान् का पदार्पण होगा, उस देश में अतिदृष्ट, अनादृष्ट,  
आत्मता आदि किसी भी प्रकार के उपद्रव नहीं होंगे। यदि पड़ने से  
बचकर हो रहे हों तो भगवान् के पदार्पण हो उसके सब पुरुषों का शान्त  
हो जाते हैं। समस्त मन्त्र में कोई भी देश के पुरुषों का अतिशय का  
स्पर्श है। यहाँ विद्या है कि 'यहाँ कोई भी भगवान् विराजमान होते  
हैं, यहाँ आत्म-आत्म सौ-सौ करोड़ तक नाना-आदि के उपद्रव नहीं  
होंगे। यदि पड़ने से हों तो शान्त हो शान्त हो जाते हैं।' यह भगवान्  
का विद्वान् नाना विषयों पर कह है। भगवान् को नाना केवल  
अनार्य के काल कोई आदि उपद्रवों को शान्त करने में ही नहीं है,  
अतिदृष्ट मन्त्र उपद्रवों का शान्त में भी है।

अब विद्या या लक्ष्य है कि आत्म-आत्म के एक अतिशय पंथ को  
को नाना-आत्म के अनुसार हो जायों को रक्षा करना, उन्हें दुःख से बचाना  
रह है। दुःखों को भोगना, करने पावकों का अर्थ बुझना है। अतः  
भगवान् को यह जायों को दुःखों से बचाने की अतिशय स्त्री ! उत्तर  
में निश्चय है कि भगवान् का जीवन नाना-आत्म है। वे स्त्री आत्म-आत्मिक  
अतः स्त्री आत्मिक लक्ष्य अतः से उनका के दुःखों को दूर कर शान्त  
का साक्षात् स्थापित करते हैं। यदि दूसरों को अपने निमित्त से दुःख  
पहुँचाना चाहें तो भगवान् को यह नाना-आत्मिक अतिशय निमित्त  
हो स्त्री ! यह अतिशय जो उपमानुबन्धा उपपन्न के द्वारा दल होता है,  
अतः उनका का अर्थ-अर्थ करता है। इनमें पाप को क दना करना ही  
यह नाना-आत्म है। अतः अतः है कि जायों को रक्षा करना पाप है ?  
यदि पाप है तो भगवान् को यह पापजनक अतिशय कैसे निमित्त ? यदि  
इतना रूप ही होता तो भगवान् स्त्री नहीं कितनी पदों को दुःख में  
है तब । स्त्री दूर-दूर देशों में अन्त्य कर उनका का अर्थ-अर्थ करते



ही विधानि नहीं लेते; प्रत्युत अपने निकट संसर्ग में जानेवाले अन्य सबको को भी माधना का पथ प्रदर्शित कर अन्त में अपने समान ही बना लेते हैं। तीर्थंकरों का ध्याता, सदा ध्याता ही नहीं रहता, वह ध्यान के द्वारा अन्तर्लोकशा ध्येयरूप में परिणत हो जाता है। उक्त सिद्धान्त की साक्षों के लिए गौतम और पन्दना आदि के इति-हस प्रसिद्ध उदाहरण हर कोई जिज्ञासु देख सकता है।

अनुरूप—संसार के सब दानों में अन्नप्रदान श्रेष्ठ है। हृदय की करुणा अन्नप्रदान में ही पूर्णतया उत्तरंगित होती है। 'दत्ताय सेट्ठं अन्नं पपायं'—सूत्र पृठांग ६ अध्यायन। अस्तु तीर्थंकर भगवान् तीन लोक में अलौकिक एवं अनुपम दयालु होते हैं। उनके हृदय में करुणा का सागर ठाठें मारता रहता है। विरोधी से विरोधी के प्रति भी उनके हृदय से करुणा की धारा बहा करती है। गोरालक कितना उद्दण्ड भाषी था ? परन्तु भगवान् ने तो उसे भी क्रुद्ध तपस्वी को तेजोलेख्य से जलते हुए बचाया। चण्ड कौशिक पर कितनी अनन्त करुणा की है ? तीर्थंकर देव उस युग में जन्म लेते हैं, जब मानव सभ्यता अपना पथ भूल जाती है, फलतः सब ओर अन्याय एवं अत्याचार का दम्भ-पूर्ण साम्राज्य फै जाता है। उस समय तीर्थंकर भगवान् क्या स्त्री क्या पुरुष, क्या राजा, क्या रंक, क्या ब्राह्मण, क्या शूद्र, सभी को सम्मान का उपदेश करते हैं। संसार के निष्पात्य वन में भटकते हुए मानव समूह की सम्मान पर लाकर उसे निराकुल बनाना, अन्नप्रदान करना, एक मात्र तीर्थंकर देवों का ही-महान् कार्य है।

चतुर्दश—तीर्थंकर भगवान् आँखों के देनेवाले हैं। कितना ही दृष्ट पुष्ट मनुष्य हो, यदि आँख नहीं तो कुछ भी नहीं। आँखों के अभाव में जीवन भार हो जाता है। अन्धे को आँख मिल जायें, फिर देखिए, किना आनन्दित होता है ? तीर्थंकर भगवान् वस्तुतः अंधों को आँखें देने वाले हैं। जब जनता के ज्ञाननेत्रों के समस्त अज्ञान का जाला धा जाता है, सत्यासत्य का कुछ भी विवेक नहीं रहता है, तब









[illegible]













रथ को धावरूपकता है। जीवन में जितना अधिक जानारथ, उतना ही अधिक संयम।

सनाधिक यत में भी अतिरिक्त धादि दोष लग जाते हैं। अतः नाभक को उनकी शुद्धि का विशेष लक्ष्य रखना चाहिए। यही कारण है कि सनाधिक को सनाधि के लिए सूत्रकार ने जो प्रस्तुत पाठ लिखा है, उसने सनाधिक में लगने वाले अतिचारों की आलोचना की गई है। यत में नजिनता पैदा करने वाले दोषों में अतिचार ही मुख्य है, अतः अतिचार की आलोचना के साथ-साथ अतिरिक्त धा और अतिरिक्त की आलोचना स्पष्ट हो जाती है।

सनाधिक यत के पाँच अतिचार हैं—मनोदुष्प्रस्थान, यचन-दुष्प्रस्थान, अयदुष्प्रस्थान, सनाधिक स्मृति भंग, और सनाधिक अनुराधित। संक्षेप में अतिचारों की व्याख्या इस प्रकार है—

(१) मन की सनाधिक के भारों से बाहर प्रवृत्ति होना, मन को सनाधिक-भारों में दौड़ाना, और सांसारिक कार्य-के लिए भूले-समझे नकल विकल्य करना, मनो दुष्प्रस्थान है।

(२) सनाधिक के समक्ष विरिक्त-रहित कटु, निष्ठुर एवं घरबीज रूपर बोधना, निरर्थक प्रस्ताव करना, कथान बढ़ाने वाले सायय यचन करना, यचन दुष्प्रस्थान है।

(३) सनाधिक में शारीरिक चरित्रता दिखावा, शरीर में कुपेय्य करना, बिना कारण शरीर को इधर उधर घुंझाना, अनुराधितों से बिना देखे-भाजे घुंझाना, काय दुष्प्रस्थान है।

(४) मैंने सनाधिक को है अथवा किन्हीं सनाधिक प्रहय को है, इस बात को ही भूल जाता, अथवा सनाधिक प्रहय करना ही भूल बैठता, सनाधिक स्मृति भंग है। भूल पठा ने धाम 'सह' शब्द का सदा धर्म भी होता है। अतः इस दिशा में प्रस्तुत अतिचार का स्वर होना, सनाधिक सदाशिव-निरन्तर व करना। सनाधिक की साधना

नियम प्रति लागू रहनी चाहिये । कभी करना और कभी न करना, यह भिन्नान्वित है ।

(५) सामाजिक से ऊबना, सामाजिक का समय पूरा हुआ या नहीं—इस बात का बार बार विचार जाना, अथवा सामाजिक का समय पूर्ण होने में वृद्धि हो ही सामाजिक समाप्त कर देना, सामाजिक स्थिति है ।

यदि सामाजिक का समय पूर्ण होने से वृद्धि हो, तब तब समाप्त है, परन्तु 'सामाजिक का समय पूर्ण होना' ऐसा विचार कर समय पूर्ण होने से वृद्धि ही सामाजिक समाप्त कर दे, तो वह समाप्त नहीं, अप्रत्यक्ष समाप्त है ।

प्रश्न—मन को गति क्यों मूल्य है । यह तो अपनी अथवा किसी शक्ति रहता ही नहीं । और उधर सामाजिक के लिए मनसे ही भावक आगमन करने का त्याग किया है, अतः प्रविष्टा मन हो जाने के कारण सामाजिक का मन हो हो जाता है । अतः सामाजिक करने की अथवा सामाजिक न करना ही ठीक है, प्रविष्टा मन का रूप तो नहीं आता ।

उत्तर—सामाजिक की प्रविष्टा के लिए यह कोई बात नहीं है । अतः यदि एक मन की कोई दृष्टि हो तो बाकी कोई भी नहीं । रहता है, सामाजिक का सर्वथा मन या समाप्त हो नहीं होता । मनोका अथवा मन की शक्ति के लिए सामाजिक ने वृद्धिमान्दिक निष्कर्ष-दृष्टि का अर्थ किया है । विचार के अर्थ से काम ही मान्य न करना, मूल्य है । सामाजिक, निष्कर्ष है । निष्कर्ष का अर्थ है, निष्कर्ष अन्त्य के द्वारा प्रमाण करना । अन्त्य लागू रहिये, एक दिवस मन पर निष्कर्ष ॥ हा अन्त्य ।

प रि शि ष्ट



: १ :

## विधि

सामायिक लेना

शान्त तथा एकान्त स्थान

भूमि का अच्छी तरह प्रनावन

रखेव तथा शुद्ध आसन

गृहस्थोचित पगड़ी या कोट आदि उतारकर शुद्ध पखों का उपयोग  
मुसबखिका लगाया

पूर्व तथा उत्तर की ओर मुख

[ पद्मासन आदि से बैठकर या जिन-मुद्रा से खड़े होकर ]

नमस्कार सूत्र=नमस्कार, तीन बार

सन्मन्त्र सूत्र=अरिहंतो, तीन बार

गुरुगुरु स्मरण सूत्र=पंचिदिय, एक बार

गुरु वन्दन सूत्र=विस्तुतो, तीन बार

[ वन्दना करके आलोचना की आज्ञा लेना, और जिन-  
मुद्रा से आगे के पाठ पढ़ना ]

आलोचना सूत्र=ईशियारहियं, एक बार

उत्तरार्द्ध सूत्र=वत्स उत्तरो, एक बार

अनार सूत्र=अस्त्य, एक बार

[ पद्मासन आदि से बैठकर या जिन मुद्रा से खड़े होकर कायो-  
स्त्यं=भ्यान करना ]



[ पद्मासन आदि से बैठकर, या विनमुद्रा से खड़े  
होकर कापोत्तर्ग=ध्यान करना ]

कापोत्तर्ग=ध्यान में लोगत्स चन्द्रेषु निम्नतमरा तक

'नमो हरिहंताय' पढ़कर ध्यान खोलना

गट रूप में लोगत्स सन्पूर्व एक बार

[ दाहिना घुटना टेक कर, बायां खड़ा कर, उस पर अंजलि-  
पद्म दोनों हाथ रखकर ]

शिरपाद सूत्र=नमोऽस्तुते दो बार

तानात्रिक तन्त्राति सूत्र=पुष्पस्त नयनस्त आदि, एक बार

तन्त्रकार सूत्र=नमःकार तीन बार

: २ :

संस्कृत-च्छायानुवाद

(१)

अमोस्कार—अमोस्कार सूत्र

नमो ऋद्भ्यः

नमः सिद्धेभ्यः

नम आचार्येभ्यः

नम उपाध्यायेभ्यः

नमो लोके सर्वसाधुभ्यः

एष पञ्चनमस्कारः,

सर्वपापप्रणाशनः ।

मङ्गलानां च सर्वेषां,

प्रथमं भवति मङ्गलम् ॥

(१)

अरिहंतो—सम्यक्त्व सूत्र

अहंन् मम देव,

यावज्जीव सुसाधवः गुरुवः ।

जिन-प्रज्ञप्तं तत्त्व,

इति सम्यक्त्वं मया गृहीतम् ॥



(३)

पञ्चिदिय—गुरुगुण-स्मरण सूत्र

पञ्चेन्द्रिय-संवरणः,

तथा नवविधब्रह्म-चर्यं-गुप्तिवरः ।

चतुर्विध-कषायमुक्तः,

इत्यष्टादशगुणैः संयुक्तः ॥१॥

पञ्चनहाव्रत-युक्तः,

पञ्चविधाचार-पालनसमर्थः ।

पञ्चसमितः त्रिगुप्तः,

षट्त्रिंशद्गुणो गुरुर्मम ॥२॥

(४)

विष्णुतो—गुरुवन्दन सूत्र

त्रिकुत्वः आदक्षिणं प्रदक्षिणां करोमि,

वन्दे,

नमस्त्यामि,

सत्करोमि, सम्मानयामि,

कल्पायाम्,

मङ्गलम्,

दैवतम्,

चैत्यम्,

पर्युपासे,

मस्तकेन वन्दे ।



पातना वनेष्टा निर्धातनार्थाय,  
निष्ठाभि-वरोमि वायोत्तमं ।

(०)

अथ उक्तसिद्धयं—आकाश सूत्र

अन्यत्र उक्तधनितेन, निःश्वसितेन,  
कामितेन, धुतेन,  
दूध्नितेन, उद्गारितेन,  
वातनिस्तर्गेण, अमर्षा,  
पित्तमूच्छंजा,  
मूत्रैः अन्नसंचालैः  
मूत्रैः श्लेष्मसंचालैः,  
मूत्रैः दृष्टि-संचालैः,  
एवमादिभिः आकारैः,  
अभ्यन्तः अविराधितः,  
भवतु मे कायोत्तमः ।  
वायुदहंता भगवता  
ननत्कारेण न पारयानि,  
तावत्काय  
त्यानेन, मोनेन, ध्यानेन,  
आत्मानं व्युत्सृजानि !

(=)

योगस्त—चतुर्विंशतिस्तव सूत्र  
लोकस्य उद्योतकरान्

(४)

ईरिषावहिर्यं—आलोचना सूत्र

इच्छाकारेण सन्दिशत भगवन् !  
 ऐर्यापयिकी प्रतिक्रमामि, इच्छामि ।  
 इच्छामि प्रतिक्रमितुम्,  
 ईर्यापयिकाया विराधनायाम्, गमनायाम्  
 प्राणाक्रमणे बोजाक्रमणे, हरिताक्रमणे,  
 अवश्यायोत्तिग पनकदकमृत्तिका मर्कट सन्तानसक्रमणे,  
 ये मया जोवा विराधिता  
 एकेन्द्रिया, द्वीन्द्रिया, त्रीन्द्रियाः,  
 चतुर्गिन्द्रिया पञ्चेन्द्रिया,  
 अभिज्ञा वतिना, श्लेषिता,  
 मघानिना मघद्विना, परितापिताः,  
 कलाभिना अवद्राविना,  
 स्थानान् स्थान मत्राभिना,  
 जोविनाद् व्यपगोपिता,  
 नस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्

(५)

तस्म उच्यते—उच्यतेकाव्य सूत्र

तस्य उन्न गीकगणन  
 प्रथित्चिन्न-कगणन,  
 विशाधी-कगणन  
 विश-यो-कगणन

पापानां कर्मणा निर्धातुनाथाय,  
तिष्ठानि-करोमि वायोत्तमम् ।

(०)

अथ उक्तमिदं—आरुत सूत्र

अथ उच्च्वनितेन, निःस्पृष्टितेन,  
कानितेन, धुनेन,  
जृम्भितेन, उद्गारितेन,  
वातनितेन, अनया,  
पित्तमूच्छया,  
सूक्ष्मः अङ्गसंचालः  
सूक्ष्मः श्लेष्मसंचालः,  
सूक्ष्मः दृष्टि-संचालः,  
एवमादिभिः आकारैः,  
अनग्नः अविराधितः,  
भवतु मे कायोत्तमः ।  
यावदहंता नगवतां  
नमस्तारेण न पारयामि,  
तावत्काय  
स्यानेन, मौनेन, ध्यानेन,  
आत्मानं व्युत्तृजामि !

(=)

योगस्त—चतुर्विंशतिस्तत्र सूत्र

लोकस्य उद्योतकरान्

## साम्पायिक सूत्र

धर्मे-तीर्थंकरान् जिनान् ।

अहंत कीर्तयिष्यामि ,

चतुर्विंशतिमपि केवलिनः ॥१॥

शृणुभमजित च वन्दे,

सुभवमभिनन्दन च सुमति च ।

पद्म-प्रभ सुपाश्वं,

जिन च चन्द्रप्रभ वन्दे ॥२॥

सुविधि च पुष्पदन्त,

शीतल, श्रेयास, वासुपूज्य च ।

विमलमनन्त च जिन,

धर्म शान्ति च वन्दे ॥३॥

कुन्धुमर च मल्लि,

वन्दे मुनिमुद्रत नमिजिन च ।

वन्दे अग्निष्टनेमि

पाश्वं तथा वर्द्धमान च ॥४॥

एव मया अभिष्टुता ,

विघ्न-रजामला प्रहीणजरामरणाः ।

चतुर्विंशतिर्गपि जिनवरा

तीर्थंकरा मयि प्रसीदन्तु ॥५॥

कीर्तिना , वन्दिना , महिना ,

य एत लोकाभ्य उत्तमा सिद्धा ।

आगेम्य-बोधि-लाभ

समाधिवरमुत्तम ददतु ॥६॥

चन्द्रेभ्यो निर्मलकराः ,

आदित्येभ्योऽधिकं प्रकाशकराः ।

सागरपर-गम्भीराः ,

सिद्धाः निदिं नन दिरान्तु ॥६॥

(१)

करोमि भन्ते—सामायिक सूत्र

करोमि भदन्त ! सामायिकम् ,

सावयं योगं प्रत्याख्यामि ,

यापन्निपमं पर्युपासे ,

द्विविधं ,

त्रिविधेन ,

मनसा, वाचा, कार्पेन ,

न करोमि, न कारयामि ,

तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमानि

निन्दामि, गह्वं

आत्मानं व्युत्सृजामि ।

(१०)

नमोऽस्तु—प्रतिपाद सूत्र

नमोऽस्तु—

अहंद्भ्यः, नगवद्भ्यः ,

आदिकरेभ्यः, तीर्थकरेभ्यः, न्ययसम्बुद्धेभ्यः ,

पुरुषोत्तमेभ्यः, पुत्पत्तिहेभ्यः ,





पाँच पदों को ननस्कार यह,  
नष्ट करे कलिमल भारो !  
मंगलमूल बखिल मंगल नै,  
पापनीर जनता तारो !

( २ )

अरिहंतो—सम्यक्त्वसूत्र

[ सोपूषवर्ष की ध्वनि ]

देव मन अहंन् पित्रेता कर्न के;  
साधुवर गुरुदेव धारक धर्म के !  
जिन-प्रभापित धर्म केवल तत्त्व है;  
ग्रहण की नने यही सम्यक्त्व है !

( ३ )

पंचिदिय—गुलुबुलस्तरय सूत्र

[ दिक्पात्र की ध्वनि ]

चंचल, चपल, हडौली नित पाच दन्दिनों का,—  
सबर-निदयना से भर-विष उतारते हैं !  
नय गुप्ति शील इन की नादर नदर पाले,  
कलुषित कथाय चारो दिन रात टारते हैं !  
पाचो नहायनों के धारक नुपुंस-भाली,  
आचार पाच पाले जीवन नुसारते हैं !  
गुरुदेव पाच मानवी दोनो नुपुंस धारो,  
प्रतीन नुच विमल है, तिर पाच नुसारते हैं !

३ :

सामायिक सूत्र हिन्दी पद्यानुवाद

( १ )

नमोक्कार—नमस्कार सूत्र

[ इन्द्र को ध्वनि ]

नमस्कार हो भरिहसो को,  
राग - रूपा रिपु - सहारो !

नमस्कार हो श्री सिद्धो को,  
अजर अमर नित अविकारी !

नमस्कार हो आचार्यों को,  
सध-गिरोमणि आचारी !

नमस्कार हो उवज्ज्वायो को,  
अक्षय धृत-निधि के धारी !

नमस्कार हो साधु सभी को,  
जग में जग-ममता मारी !

त्याग दिए वैराग्य-भाव से,  
भोग-भाव सब ससारो !



( ० )

अन्नत्थ—आगारसूत्र

[ रूपमात्रा की ध्वनि ]

नाथ ! पामर जीव है यह, भ्रान्ति का भंडार;  
 अस्तु, कायोत्सर्ग में कुछ, प्राप्त है आगार !  
 स्वास ऊँचा, स्वास नीचा, द्यौक अथवा काता;  
 जृम्भणा, उद्गार, वातोत्सर्ग, भूम मतिनाग !  
 पित्तमूच्छर्द्वा, ओ अणु भो अणु का संचार;  
 श्लेष्म का और दृष्टि का यदि सूक्ष्म हो प्रविचार !  
 अन्य भी कारण तथाविध हैं अनेक प्रकार;  
 चचलाकृति देह जिनमें क्षीय हो सविकार !  
 भाव कायोत्सर्ग मम हो, पर अलङ्घ्य अभेद्य;  
 भावना-व्यय है सुरक्षित देह ही है भेद्य !  
 जीव कायोत्सर्ग, पद नवकार ना लूँ पार;  
 ताव स्थान, मुग्धौन से स्थित ध्यान की भनकार !  
 देह का सब भान भूलूँ साधना इक तार,  
 आत्म-जीवन से हटाऊँ, पाप का व्यापार !

( ८ )

लोगस्म—चतुर्विंशतिस्तव सूत्र

[ इतिगीतिका की ध्वनि ]

मं उद्घोत-कर धीधर्म-तीर्थ-कर महा,  
 चौबीस अहंन केवली बन्दू अखिल पापापहा !

श्री आदि नरपुंगव 'शृपभ' जिनवर 'अजित' इन्द्रियवयी;  
 संभव तथा अग्निनन्द जी गोभा अमित महिमानयी !  
 श्री सुनति, पद्म, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, सुविधि जिनराज का;  
 शीतल तथा ध्यान का तप तेज है दिनराज का !  
 श्री बामुपुष्प, विमल, अनन्त, अनन्तशानी धनं जी;  
 श्री शान्ति, कुन्दु तथैव अर, मल्ली, नगाए कर्म जी !  
 भगवान् नुनिसुव्रत, गुणो ननो, नेमि, पार्श्व विनेश को;  
 वर वन्दना है भक्ति से श्री वीर धनं-दिनेश को !  
 हो कर्ममल-विरहित जरा-मरणादि सब क्षय कर दिए ;  
 चौबीस तीर्थंकर जिनेन्द्र लुगालु हों गुण-स्तुति किए !  
 कीर्तित, महित, वन्दित सदा ही तिष्ठ जो हैं लोक में;  
 आरोग्य, बोधि, समाधि, उत्तम दें, न आएँ शोक में !  
 राक्षस से निर्मल अधिक उज्ज्वल अधिक दिवसेश से;  
 व्यानोह कुछ भी है नहीं. गंभीर तिन्यु जलेश से !  
 शर की मधु-प्राप्तना अन्तर्हृदय में कुछ नहीं;  
 । तिष्ठ तू न तो तिष्ठि नुन्को भी मिले आशा पही !

( ६ )

करेमिभंते—सामायिक प्रतिज्ञा सूत्र

[ व्यापारो की धनि ]

उदन् ! सामायिक कर्त्ता हैं तनभाव.

पापरूप व्यापारो की कल्पना हटाता है !

उन निधन धनं-व्यापारो की उपात्तना है;

सुगल करण तीन योग से निभाता हैं !

पापकारी कर्म मन, वच और, तेन द्वारा;  
स्वयं नहीं करता हूं और न कराव  
करके प्रतिक्रमण, निन्दा तथा गर्हणा में;  
पापात्मा को बोधिरा के विशुद्ध बनात

( १० )

नमोत्पुष्पं—प्रणिपात सूत्र

[ लेख की ध्वनि ]

नमस्कार हो पीतराग अर्हन् भगवन् को  
आदि धर्म की कर्ता थी तीर्थकर जिन को  
स्वयंपुष्ट हैं, भूतल के पुरुषों में उत्तम;  
पुरुष-सिंह है, पुरुषों में अरविन्द महत्तम !  
पुरुषों में है ध्येष्ठ गन्धहस्ती से स्वामी;  
लोकोत्तम हैं, लोकनाथ है, जगद्धित-कामी !  
लोक-प्रदीपक हैं, अति उज्ज्वल लोक-प्रकाशक;  
अभयदान के दाना अन्तर बहु-विकाशक !  
माग दाग्ण, सद्बोधि, धर्म, जीवन के दाता;  
सग्य धर्म के उपदेसक, अधिनायक बाना !  
धर्म-प्रवर्तक, धर्म-व्यवर्ता जग-जेता;  
द्वीप-त्राण-मणि-गरण-प्रतिष्ठामय शिवनेना !  
थ्येष्ठ तथा अनिरुद्ध ज्ञान दर्शन के धारा,  
छपरहित, अज्ञान भ्रान्ति की सना टारी !  
राम-द्वेष के जेता और जिताने वाले,  
भवगाम्य से मोक्ष तयैव निराने वाले !

स्वयं बुद्ध हो, बोध भव्य बीजों को दीना;  
 मूला और मोक्ष का पद भी उत्तम लीना !  
 लोकलोक-प्रकारी अविचल केवल जानी;  
 केवलदर्शी परम अहिंसक मुक्त-ध्यानी !  
 नगल-नय, अविवेचन, गुण्य सकल रोगों से;  
 जघन, और जगन्त, रहित मध्या-योगों से !  
 एक बार जा वहां, न फिर जग नें जाए हैं;  
 नर्वात्मन वह स्थान मोक्ष का अर्जनाए हैं ।  
 ( एक बार जा वहां, न फिर जग नें जाना है;  
 नर्वात्मन वह स्थान मोक्ष का अर्जनाए हैं । )  
 नमस्कृत हो श्री विन अन्तर-रिपु-वधकारी;  
 असिल भयों को बीत पुणं निनयना धारी !

१—बुद्ध कीदृशत्व पराजन्दर प्रतिद्वंद्वों के विरुद्ध है ।

( ११ )

नवनस्म नानादय—सनातिवृत्त

[ धनधरो की ध्वनि ]

( १ )

सामाधिक ज्ञान का नन्दन काल पुरा हुआ,

नून ब्रह्म जो भी हुई आलोचना कहें न;

मन, वच नन बुरे ज्ञान ने प्रवृत्त हुए,

अन्तर्य बुद्धि को विनयना से उल्लेख नै !

स्मृतिभूत तथा अद्वैत-ज्ञान के बोध,

पञ्चानान कर पाद-काजिना से उल्लेख नै;

अखिल दुरित मम शीघ्र ही विफल होवे;  
 अतल असोम भवसागर से तर्ह मैं !

( २ )

सामायिक भली भाँति उतारी न अन्तर म,  
 स्पर्शन, पालन, यथाविधि पूर्ण की नहा;  
 वीतराग-वचनो के अनुसार कीर्तना की,  
 श्रद्धि की, आराधना की दिव्य ज्योति ली नही !  
 ससार की ज्वालाओं से पिपासित हृदय ने,  
 शान्तिमूल समभावना की सुधा पी नही;  
 आलोचना, अनुत्ताप करता हूँ बार-बार,  
 साधना में क्यों न सावधान वृत्ति दो नही ॥



: ४ :

## सामायिक पाठ

[ आचार्य अमित गति ]

तत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं  
विलप्टेषु जीवेषु कृपापरस्त्वम् ।

नाध्यस्त्य-भावं विपरीतवृत्ती

तदा ममात्मा विदधातु देव ! ॥१॥

हे जिनेन्द्र देव ! मैं यह चाहता हूँ कि यह मेरी आत्मा सदैव प्राणिमात्र के प्रति मित्रता का भाव, गुणी जनों के प्रति प्रमोद का भाव, दुःखित जीवों के प्रति करुणा का भाव, और धर्म से विपरीत आचरण करने वाले अधर्मी तथा विरोधी जीवों के प्रति राग-द्वेषरहित उदासीनता का भाव धारण करे ।

शरीरतः कतुमनन्त-शक्ति

विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम् ।

जिनेन्द्र ! कोपादिव खङ्गमपि

तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः ॥२॥

हे जिनेन्द्र ! आपकी स्वभावसिद्ध कृपा से मेरी आत्मा में ऐसा आध्यात्मिक बल प्रकट हो कि मैं अपनी आत्मा को कानिसे शरीर आदि से उसी प्रकार अलग कर सकूँ, जिस प्रकार म्यान से तलवार



एकेन्द्रिय आदि प्राप्ति नष्ट हुए हों, दुकड़े किये गए हों, निर्दयता-  
पूर्णक मिला दिए गए हों, किं बहुना, किसी भी प्रकार से दुःखित किए  
हों, तो यह सब दुष्ट आचरण मिथ्या हो।

विमुक्तिनार्ग-प्रतिकूल-वर्तिना

नया कषायाक्षदशेन दुषिया ।

चारित्र-शुद्धेयंदकारि लोपनं,

तदत्तु निध्या मन दुष्कृतं प्रभो ! ॥६॥

हे प्रभो ! मैं दुष्ट हूँ, मोक्षनार्ग से प्रतिकूल चलने वाला हूँ,  
अतएव शर कषाद और पाँच इन्द्रियों के परा में होकर मैं ने जो कुछ  
भी अपने चारित्र की शुद्धि का लोप किया हो, यह सब मेरा दुष्कृत  
निध्या हो।

विनिन्दनालोचन-गर्हणरहं

मनोवचःकाय-स्वपाननिर्निवृत्तम् ।

निहन्ति पापं भवदुःखकारणं

भियन् विष मन्त्रगुणस्त्रिाखिलम् ॥७॥

मन, वचन, शरीर एवं कर्माणों के द्वारा जो कुछ भी संसार के  
दुःख का कारणभूत पापाचरण किया गया हो, उन सब को विन्दा,  
आलोचना और गर्हा के द्वारा उन्मा प्रकार नष्ट करता हूँ, जिस प्रकार  
कुशल वैद्य मंत्र के द्वारा अंग-अंग में स्थित ममस्त विष को दूर कर  
देता है।

अतिशम न विमनेज्जतिशम

जिनानिचारै नुचरित्रकमेव ।

व्यथामनानागमनि प्रमादत ।

प्रतिशम जल्प वरगोनि शुद्धये ॥८॥

हे विनेश्वर देव ! मैंने विकासबुद्धि से प्रेरित होकर अपने सुदूर चरित्र में जो भी प्रमाद वर्य अतिक्रम, अतिक्रम, अतिशय और अनाचार रूप दोष लगाए हों, उन सब की क्षुब्धि के लिए प्रतिक्रम कर रहा हूँ ।

शानि मनः शुद्धिविधेरनिक्रम

अनिक्रम शोनवृत्तविलङ्घनम् ।

प्रभोऽनिवार विषयेषु वर्जन

वदलयनाभारमिश्रानिगररत्नाम् ॥२॥

हे प्रभो ! मन की शुद्धि में अति होना अति कम है, शीघ्र बुद्धि का अर्थात् स्वीकृत प्रवृत्ति के अनुसरण का मात्र अतिक्रम है, विषयों में प्रवृत्ति करना अतिशय है, और विषयों में अतीव आसक्त होना— निरसक हो जाना अनाचार है ।

यदेवमात्रादवाप्त्य—क्षीने

मया प्रमादाद्याद विचलितम् ।

स्मि शक्तिरा विदधातु देवी

तस्मिन्वती हृदये—वाप—दक्षिणम् ॥३॥

बुद्धि मैंने प्रमादवश होकर अर्ध, 'मात्रा, वर्य और वाच्य से क्षीन वा अर्धिक काई भी वचन कहा था जो उक्त विद्विजितवाणी मुझे क्षमा कर और केवल ज्ञान का समस्त प्रकाश प्रदान करे ।

शानि ममात्रा तस्मिन्वती

स्मिन्वती तस्मिन्वती तस्मिन्वती ॥

स्मिन्वती तस्मिन्वती तस्मिन्वती

स्मिन्वती तस्मिन्वती तस्मिन्वती ॥४॥

स्मिन्वती तस्मिन्वती तस्मिन्वती ॥५॥

के प्रदान करने में चिन्तानधि रत्न के समान है । वेरी कृपा से मुझे  
रत्नत्रय रूप बोधि, आत्मज्ञानरूप सनाधि, परियानों की पवित्रता,  
आत्मस्वरूप का लाभ और मोक्ष का मुक्त प्राप्त हो ।

यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्र—वृन्द—

यः स्तुयते सर्वनरामरेन्द्रः ।

यो गीयते वेद—पुराण—शास्त्रैः

त देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१२॥

जिस परमात्मा को संसार के सब मुनीन्द्र स्मरण करते हैं, जिसकी  
मोरेन्द्र और सुरेन्द्र तक भी स्तुति करते हैं, और जिसकी महिमा  
संसार के समस्त वेद, पुराण एवं शास्त्र गाते हैं, वह देवों का भी  
आराध्य देव घांतराग भगवान् मेरे हृदय में विराजमान होवे ।

यो दर्शन—ज्ञान—मुख—स्वभावः

समस्तसत्तार—विकार—बाह्यः ।

सनाधिगम्यः परमात्म—सत्तः

त देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१३॥

जो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त मुख का स्वभाव  
धारण करता है, जो संसार के समस्त विकारों से रहित है, जो निर्वि-  
कल्प सनाधि ( ध्यान की निश्चलता ) के द्वारा ही अनुभव में आता  
है, वह परमात्मा देवाधिदेव मेरे हृदय में विराजमान होवे ।

निपदते यो भवदुःख—जाल

निरीक्षते यो जगदन्नरालम् ।

योऽन्तर्गतो योगिनिरीक्षणीय

त देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१४॥

जो संसार के समस्त दुःख-जाल को विध्वस्त करता है, जो त्रिमु-

वनवर्ती सब ...  
 द्वारा निरीक्षण ...  
 होवे ।

स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१५॥

जो मोक्ष मार्ग का प्रतिपादन करने वाला है, जो अमरमरण कष्ट-  
 आपत्तियों से दूर है, जो तीन लोक का द्रष्टा है, जो शरीर-रहित है,  
 और निष्कलंक है, वह देवाधिदेव मेरे हृदय में विराजमान होवे ।

क्रोडीकृताशेष-शरीरि-वर्ग

रागादयो यस्य न सन्ति शेषाः ।

निरिन्द्रियो ज्ञानमयोज्जपायः

स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१६॥

समस्त संसारी जीवों को अपने निर्विशेष में रखने वाले रागादि-  
 शेष जिसमें नाम मात्र की भी नहीं है, जो इन्द्रिय तथा मन से रहित  
 है, अथवा अतीन्द्रिय है, जो ज्ञानमय है और अविनाशी है, वह देवा-  
 धिदेव मेरे हृदय में विराजमान होवे ।

यो व्यापको विश्वजनीनवृत्ति

सिद्धो विबुद्धो धृत-कर्मबन्ध ।

ध्यातो धूर्ताने मकल विकार

स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१७॥

जो विश्वज्ञान की दृष्टि में अक्षिप्त विषय में व्याप्त है, जो विरव-  
 नाशना में मोक्ष-मोक्ष है, जो सिद्ध है, बुद्ध है, कर्म-बन्धनों

में रहित है, जिसका ध्यान करने पर समस्त विकार दूर हो जाते हैं, वह देवाधिदेव और हृदय में विराजमान होवे ।

न स्पृश्यते न स्पृज्यते न शोच्यते—

यो प्राप्तः स शेषा विमलान् ।

निरञ्जन निरञ्जनोऽहमेक

त देवनाप्त शरण प्रपद्ये ॥१८॥

जो कर्म कलंक रूपा दोषों के स्पर्श से उसी प्रकार रहित है, जिस प्रकार अणुसूक्ष्म अणुसूक्ष्म समूह के स्पर्श से रहित होता है, जो निरञ्जन है, निरञ्ज है, तथा जो गुणों की दृष्टि से अनेक है और द्रव्य की दृष्टि से एक है, उस परमसत्त्वरूप आप्त देव की शरण में स्वीकार करता है ।

विभक्तं यन् नरीतिनालि—

त्वापिदमने भुवनविभक्ति ।

स्वात्मस्थित बोधमयप्रकाश

त देवनाप्त शरण प्रपद्ये ॥१९॥

बौद्धिक सूर्य के न रहते हुए भी विलम्बे वान लोक को प्रकाशित करने वाला केवल शान सूर्य प्रकाशमान हो रहा है, जो निरञ्ज नर की अवस्था से अनेक आत्मस्वरूप में ही स्थित है, उस आप्त देव की शरण में स्वीकार करता है ।

चितोक्त्यनाने साति यन् विस्व

चितोक्त्यते स्पष्टमिद विविक्तम् ।

गुह्य शिव शान्तमनाद्यनन्त

त देवनाप्त शरण प्रपद्ये ॥२०॥

जिसके ज्ञान में देखने पर सम्पूर्ण विस्व अलग-अलग रूप में —

स्पष्टतया प्रतिभासित होता है, और जो शुद्ध है, शिव है, शाश्वत है, अनारि है और अनन्त है, उस शाश्वत देव की शरण में स्वीकार करवा है ।

येन क्षता मन्मथ-मान-मूर्च्छा  
विषाद-निद्रा-भय-शोक-चिन्ता ;

क्षम्योऽनलेनेव तद-प्रपञ्च—

स्त देवमाप्ता शरणं प्रपद्ये ॥२१॥

जिस प्रकार दहामग्न कृष्टों के समूह को भस्म कर डालता है, उन्ही प्रकार जिसने काम, मान, मूर्च्छा, विषाद, निद्रा, भय, शोक और चिन्ता को नष्ट कर डाला है, उस शाश्वत देव की शरण में स्वीकार करवा है ।

न मन्तरोऽयमा न नृष न मेदिनी

विधानतो नो फलको विनिर्मितः ।

यनो निरस्नाधकषाय-विद्विष

मुषोभिगल्मैव मुनिर्मन्त्रो मतः ॥२२॥

सामायिक के शिष्ट विधान के रूप में न तो पत्थर की शिला को समझना माना है, और न नृष, पृथ्वी, काष्ठ आदि को । निरस्य एषि के विद्वानों ने इस निर्मल धारमा को ही सामायिक का धारम=धार माना है, जिसने अपने हृदय और कर्मावरुपी कण्डूओं को पराजित कर दिया है ।

न मन्तरो भद्र । ममाधिमाधन

न लोकपूजा न च मघमेन्दनम् ।

यतस्ततोऽध्यात्मग्नो भवानिश

विमुच्य सर्वामपि बाह्यवासनाम् ॥२३॥



हे भद्र ! यदि वस्तुतः देखा जाय तो समाधि का साधन न आत्मन है, न लोक-पूजा है, और न संघ का नेल-जोल ही है । अतएव तू तो संसार की समस्त घातनाशों का परित्याग कर निरन्तर ध्यात्मभाव में खीन रह ।

न सन्ति बाह्याः मन केचनार्था

भवानि तेषां न कदाचनाहम् ।

इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं

त्पत्यः नदा त्वं भव भद्र ! मुक्त्यै ॥२४॥

‘संसार में जो भी बाह्य भौतिक पदार्थ हैं वे मेरे नहीं हैं, और न मैं ही कभी उनका हो सकता हूँ’— इन प्रकार हृदय में निश्चय दान कर हे भद्र ! तू बाह्य वस्तुओं का त्याग कर दे और मोक्ष की प्राप्ति के लिए सदा आत्मभाव में स्थिर रह ।

आत्मानमात्मन्यवलोक्यमानः —

त्वं दर्शन-ज्ञानमयो विमुक्तः ।

एकाग्रचित्तं क्षणं यत्र तत्र

स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम् ॥२५॥ —

जब तू अपने को करने आत्मा में देखता है, तब तू दर्शन और ज्ञान रूप हो जाता है, पूर्णतया शुद्ध हो जाता है । जो साधक करने चित्त को एकाग्र बना लेता है, वह जहाँ कहीं भी रहे समाधि-भाव को प्राप्त कर लेता है ।

एकं नदा शास्त्रविकीर्णमात्मना

विनिर्मलं साधनमन्यमानः ।

बहिर्नया मन्त्रपरे मनन्या

न शास्त्रज्ञा समनया न्यवीन्या ॥२६॥



दू अपनी आत्मा को दूसरा जड़ से भिन्न रूप में देख और परमात्म-  
ता में खोने लगे ।

स्वयंकृतं कर्म यदात्मना पुरा

फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।

परेण दत्तं यदि-लभ्यते स्फुटं

स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥३०॥

आत्मा ने पहले जो कुछ भी शुभाशुभ कर्म किया है, उसी का  
शुभाशुभ फल वह प्राप्त करता है । यदि कभी दूसरे का दिया हुआ  
फल प्राप्त होने लगे तो फिर निश्चय ही अपना किया हुआ कर्म निर-  
र्थक हो जाए ।

निजाजितं कर्म विहाय श्रेष्ठिनो

न कोऽपि कस्यापि ददाति किञ्चन ।

विचारयन्नेवमनन्द—मानसः

परो ददातीति विनुष्य शत्रुषीम् ॥३१॥

संतारी जाँव अपने ही कृत कर्मों का फल पावे हैं, इसके अति-  
रिक्त दूसरा कोई किसी को कुछ भी नहीं देगा । हे भद्र ! तुम्हें यही  
विचारना चाहिए 'और दूसरा देगा है'—यह बुद्धि त्याग कर अवलम्बन  
अप्राप्त अचंचल हो जाना चाहिए ।

यं परमात्माजितगतियन्त्र

सर्व-विविक्तो भूतमनवद्य ।

शब्दबध्नीतो ननंति लभन्ते

मुक्तिनिकेन विभवपरं ते ॥३२॥

जो भग्न प्राणी अपार शब्द के धर्मा अनित्यगते मरुधरो से बन्ध-  
नोप, सब प्रकार की कर्मोपाधि से रहित, और अजीव अशक्त परमा-

स्वरूप का अपने मन में निरन्तर ध्यान करते हैं, 'वे मोक्ष की' सर्वश्रेष्ठ सखी को प्राप्त करते हैं ।

### विशेष

यह सामायिक पाठ आचार्य समित गति का रथा हुआ है । आध्यात्मिक भावनाओं का कितना सुन्दर चित्रण किया गया है, यह हरेक सहृदय पाठक अच्छी भाँति जान सकता है ।

आज कल दिगम्बर जैन परम्परा में इसी पाठ के द्वारा सामायिक की जाती है । दिगम्बर परंपरा में सामायिक के लिए कोई विशेष विधान नहीं है । केवल इतना ही कहा जाता है कि—एकान्त स्थान में पूर्व या उत्तर को मुख करके दोनों हाथों को सरका कर त्रिनमुद्रा से बंधे हो जाना चाहिए । और मन में यह नियम लेना चाहिए कि जबतक ३८ मिनट सामायिक की क्रिया करेगा, तब तक मुझे अन्ध स्थान पर जाने का और परिग्रह का त्याग है ।

उत्पन्नतर जी बार या तीन बार दोनों हाथ जोड़ कर तीन आचरें और एक शिरोनति करे । आचरें का अर्थ—बाईं ओर से दाहिनी ओर हाथों को घुमाना है । इस प्रकार तीन आचरें और एक शिरोनति की क्रिया को प्रत्येक दिशा में तीन-तीन बार करना चाहिए । पुन पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके उग्रामन से बैठ कर पहले वस्तुन सामायिक पाठ का पाठ करना चाहिए और बाद में माहा भादि से उब करना चाहिए ।

## प्रवचनादि में प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची

१. अष्टाध्यायी व्याकरण—पाणिनि
२. अष्टक प्रकरण—आचार्य हरिभद्र
३. अथर्ववेद
४. अनारकोपटीका—भानुजी दोष्टि
५. अनित्यगति भावकाचार
६. अन्तर्हरण सूत्र
७. आचाराङ्ग सूत्र
८. आत्म-प्रबोध—जिनजीमसूत्रि
९. आवरणक नियुक्ति—आचार्य श्रीमद्बाहु
१०. आवरणक बृहद्वृत्ति—हरिभद्र
११. उत्तराध्ययन सूत्र
१२. उपासक दण्ड सूत्र
१३. औपपातिक सूत्र
१४. कल्पसूत्र
१५. तत्त्वार्थ सूत्र—आचार्य उनात्वात्रि
१६. तत्त्वार्थ राजवार्तिक—भट्टकृष्ण
१७. तत्त्वार्थसूत्र टीका—वाचक पटोविजय
१८. तीन गुणवत्—सूत्र्य जगद्गिराचार्य
१९. दण्डवैकृतिक सूत्र

२०. दशवैकादिक टीका—आचार्य हरिभद्र  
 २१. द्वारिगवद्वात्रिंशिका—मणोविजय  
 २२. धर्मसंग्रह—मानविजय  
 २३. निरुक्त  
 २४. निरीष सूत्र  
 २५. निरीष सूत्र चूर्ति  
 २६. नैषधचरित—प्रीतर्प  
 २७. पञ्चाशक—आचार्य हरिभद्र  
 २८. प्रतिक्रमणसूत्र वृत्ति—आचार्य नमि  
 २९. प्रवचनसार सात्पर्यवृत्ति—आचार्य जयसेन  
 ३०. प्रापरिचय-समुच्चयवृत्ति  
 ३१. प्रश्न व्याकरणसूत्र  
 ३२. भगवती सूत्र  
 ३३. भगवती सूत्र वृत्ति—समपदेव  
 ३४. भगवद् गीता  
 ३५. यदुर्वेद  
 ३६. योग शास्त्र—आचार्य देवचन्द्र  
 ३७. योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति  
 ३८. रत्नकरचक्र भावकाचार—आचार्य समन्तभद्र  
 ३९. राजप्रशनीचमूत्र टीका—मलयगिरि  
 ४०. व्यवहार भाष्य—संयद्वात्सगन्धी  
 ४१. व्यवहारभाष्य टीका—आचार्य मलयगिरि  
 ४२. विशेषादरवक भाष्य—जिनभद्रगन्धी 'कमलधर्म'  
 ४३. वैदिक सन्ध्या—दामोदर सातवडकेकर  
 ४४. यत्तपच भाष्य  
 ४५. शास्त्रार्थ समुच्चय—हरिभद्र  
 ४६. बौद्धिक प्रकरण—आचार्य हरिभद्र

४०. स्थानाङ्ग सूत्र
४८. स्थानाङ्ग सूत्रटीका—अभयदेव
४९. तानापिक पाठ—आचार्य अमृतगति
५०. तानापिक सूत्र—सं० मोहनलाल देसाई
५१. सूत्रकृष्णाङ्ग सूत्र
५२. सूत्रकृष्णाङ्ग सूत्र टीका—आचार्य शीलाङ्क
५३. सर्वार्थसिद्धि—रुज्यपाद
५४. सर्वार्थसिद्धि—कनकगीत
५५. शाखासूत्र मूल





